TAGORE INTERNATIONAL
LITERATURE & ARTS
FESTIVAL
विश्व रंग
BHOPAL (INDIA)

वनमाली कथा

वर्ष-1, अंक-7, अगस्त, 2022

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

Follow us on: | www.cvru.ac.in

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur AN AISECT GROUP UNIVERSITY

Approved by : PCI | AICTE | NCTE | BCI | Member of : AIU | Joint Committee : (UGC | DEB | AICTE) | Recognized by : UGC | A NAAC Accredited University

BE THE CHANGE

Reach the heights of success

India's Leading University

- NAAC Accredited
- Skill Based
- Research Driven
- Digitally Enabled
- Internationally Connected
- Focused on Startups

COURSES OFFERED

Engineering & Technology | Education | Law | Arts | Physical Education
Journalism & Mass Communication | Science | Commerce | Management
Information Technology | Open & Distance Education

OUR PLACEMENT PARTNERS

More than **300 companies** for Placements and Internships offering up to **10 lakh package**

Paytm, Tech Mahindra, NIIT, American Express, amazon, wipro, Star, Infosys, iON

CERTIFICATION COURSES IN:

B.Tech | AI/ML
Data Science
Forensic Science, and *many more...*

Integrated Future-Ready Courses In Association With Red Hat, N·S·D·C National Skill Development Corporation, coursera, AISECT Future Skills Academy, MICRO FOCUS

PROMINENT FEATURES OF CVRU

- AISECT has **37 years** of experience in education
- Over **120 labs** and **workshops**
- **Institute** of **Open** and **Distance Education (IODE)** established
- Digital University providing **online live lectures**
- CVRU Research Centre focuses on **Research Development**
- **Offers short-term** courses through **CVRU NSDC Academy**
- **13 advanced research centres of excellence**
- **15 International** & **30 National** level collaborations
- Over **1500 research papers** and **100+ books** written by faculty and scholars

AWARDS AND RECOGNITIONS

- Zee Madhya Pradesh & Chhattisgarh Education Excellence Award 2020
- ASSOCHAM INDIA Excellence in Education, Training & Development Award 2018
- Education Excellence Award 2018

Ranked 8th in the Multi-Disciplinary Private University in the zone by THE WEEK

Ranked among State Private Universities by OUTLOOK

Ranked among India's Top 30 Private Universities of India by INDIA TODAY

Dr. C.V. Raman University Campus: Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)
Ph: +91-7753-253801, 6261-900581/82 | **Email:** info@cvru.ac.in | admissions@cvru.ac.in

A UNIT OF AISECT GROUP OF UNIVERSITIES
CHHATTISGARH | MADHYA PRADESH | JHARKHAND | BIHAR

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका
वर्ष-1, अंक-7, अगस्त, 2022

प्रबन्ध सम्पादक
सिद्धार्थ चतुर्वेदी

सम्पादकीय सम्पर्क
वनमाली कथा
वनमाली भवन
ई-7/22, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी
भोपाल-462016 (म.प्र.)
फोन : 91-755-4851056
मो. 09875370979 / 09893100979
ईमेल : vanmali@aisect.org

प्रबन्धक : महीप निगम
शब्द संयोजन : रवि चौहान, मुकेश रघुवंशी
कार्यालय सहायक : अशोक कनाडे, राहुल गोयल

मूल्य : 50 रुपये (एक अंक)
वार्षिक : 500 रुपये, **त्रैवार्षिक :** 1200 रुपये

Online Transaction
Benificary Name : **VANMALI**,
State Bank of India, Mahavir Nagar Branch, Bhopal.
Bank A/c 40865384472, IFSC Code SBIN0003867
ध्यान रहे, शुल्क जमा करने के बाद प्रपत्रक को 9893100979 पर जरूर ह्वाट्सऐप करें।

वनमाली कथा से सम्बन्धित सभी विवादास्पद मामले केवल भोपाल न्यायालय के अधीन होंगे। इसमें प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे *वनमाली कथा* की सहमति अनिवार्य नहीं है। साथ ही, उनके मौलिक अथवा अप्रकाशित होने का उत्तरदायित्व भी सम्पादक और प्रकाशक का नहीं है।

प्रकाशक-मुद्रक : सिद्धार्थ चतुर्वेदी द्वारा आईसेक्ट पब्लिकेशंस, ई-7/22, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 के लिए प्रकाशित तथा मुद्रित। **सम्पादक :** कुणाल सिंह

संरक्षक
संतोष चौबे

प्रधान सम्पादक
मुकेश वर्मा

सम्पादक
कुणाल सिंह

सहायक सम्पादक
संजय सिंह राठौर, ज्योति रघुवंशी

आईसेक्ट पब्लिकेशन

स्थानिकता का विश्वरंग

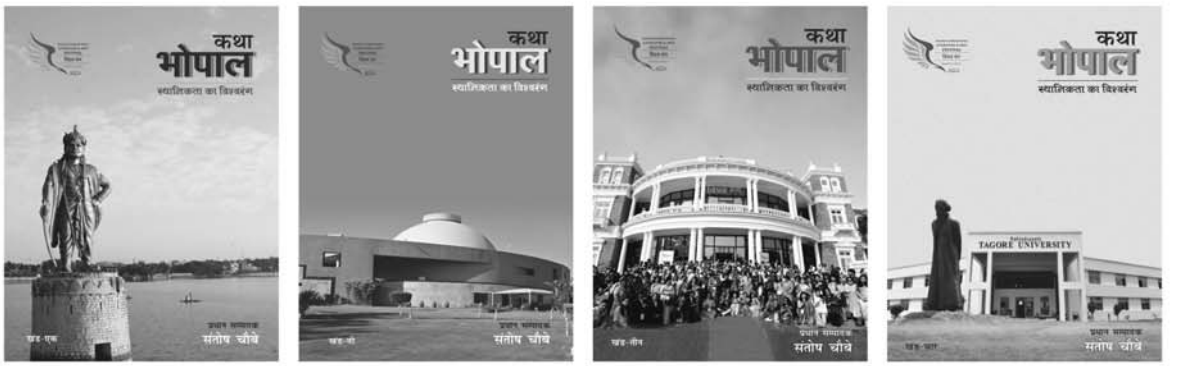

कथा भोपाल

(4 खंडों में)

प्रधान संपादक : **संतोष चौबे** संपादक : **मुकेश वर्मा**

शहर, उसका वातावरण, उसके पात्र कथा को एक स्थानिकता प्रदान करते हैं, घटनाएँ वायवीय न होकर स्वाभाविक नज़र आती हैं और शहर के साथ-साथ चलती मनोजगत की यात्रा आपको भीतर से समृद्ध करती चलती है। कथावस्तु अंततः एक वैश्विक स्वरूप ग्रहण करती है। कहानी हमारे सामने उपस्थित यथार्थ का भाष्य करती है और एक विश्वसनीय संसार का निर्माण करती है, सॉमरसेट मॉम ने कहा भी है कि कहानी में लेखक 'सत्य' का चित्रण नहीं करता, वह जो चित्रण करता है, वह सत्य की तरह लगता है। स्थानिकता कहानी को वह आधार प्रदान करती है जो उसे विश्वसनीय बनाये। स्थानिकता से शुरू हुई यात्रा वैश्विकता पर समाप्त होती है।

इस यात्रा में मैं मुकेश वर्मा, महेंद्र गगन, बलराम गुमास्ता, कुणाल सिंह और ज्योति रघुवंशी जैसे अपने मित्रों से साथ चलने का अनुरोध करता हूँ। हम सब खुशी-खुशी इस यात्रा पर निकल पड़ते हैं, जिसे 'कथा मध्यप्रदेश' और 'कथादेश' के बाद अब 'कथा विश्व' तक जाना है। यह स्थानिकता का विश्वरंग होगा। इस यात्रा के तीसरे पड़ाव के रूप में 'कथा भोपाल' आपके सामने है।

- संतोष चौबे

मूल्य : 600 रु. (प्रत्येक खंड), सम्पूर्ण सेट के क्रय पर विशेष छूट देय

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

वर्ष-1, अंक-7, अगस्त, 2022

तरतीब

दस्तखत / 5

इनबॉक्स / 7

देशकाल / 110

वनमाली जयन्ती

जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' : सन्तरे वाली / 20

विष्णु खरे : मित्र, शिक्षक और एक अप्रतिम कथाकार / 11

कालजयी : रमेशचन्द्र शाह

शम्पा शाह : पहाड़-सी बैठक / 25

दस कविताएँ

बोधिसत्व की दस कविताएँ / 40

जितेन्द्र श्रीवास्तव : जीवन व समाज का संश्लिष्ट प्रमेय (पड़ताल) / 42

कहानी

जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' : सन्तरे वाली / 20

मधुसूदन आनन्द : पिस्तौल / 102

प्रकाश कान्त : वह यक्ष नहीं था / 55

रमाकान्त श्रीवास्तव : चक्रवात / 60

मनीषा कुलश्रेष्ठ : जमीन / 74

तेजेन्द्र शर्मा : शुभांगी सुनना चाहती है (कथाप्रवास– यूके) / 68

फौजिया रशीद : दो कहानियाँ (कथाविश्व– बहरीन) / 92

ना. पार्थसारथी : दखिणावर्त शंख (कथाभारत– तमिल) / 96

फोकस

मनीषा कुलश्रेष्ठ : जमीन / 74

नीरज खरे : स्त्री-विमर्श की जमीन / 78

पंकज सुबीर : एलिस के वंडरलैंड और यथार्थ के जादुई सम्मिश्रण की कथाकार / 87

कथेतर

ओमा शर्मा : चलते-फिरते जीवन से चुपचाप / 46

स्वरशेष : भूपिन्दर सिंह

युनूस खान : उदासी के औलिया का जाना / 36

उसने कहा था

यूकियो मिशिमा के उद्धरण / 116

अन्ततः

मुकेश वर्मा : सत्कथा कही नहीं जाती / 114

आवरण

आईसेक्ट कला प्रभाग

भीतरी रेखांकन

रागिनी तिवारी

दस्तखत

अगस्त का महीना 'वनमाली कथा' के सदस्यों के लिए विशेष है। इस माह की पहली तारीख को हम वनमाली जयन्ती के रूप में मनाते हैं। इस दिन देश-भर में फैले डेढ़ सौ से ज्यादा वनमाली सृजनकेन्द्रों के सदस्यों को भोपाल बुलाया जाता है और 'वनमाली सृजन सम्मेलन' किया जाता है। प्रत्येक वर्ष की तरह इस वर्ष भी भोपाल, दिल्ली, खंडवा, बिलासपुर, वैशाली, हजारीबाग और लखनऊ के सृजनपीठों के अध्यक्ष तो सादर सम्मिलित हो ही रहे हैं, एक सौ छप्पन सृजनकेन्द्रों से सम्बद्ध रचनाकार और प्रतिभागी भी अपनी रचनात्मक उपस्थिति से इस सृजन सम्मेलन को यादगार बना रहे हैं। इस अवसर पर विविध साहित्यिक-सांस्कृतिक सत्रों व कार्यक्रमों को देखते बनता है।

विदित हो कि 'वनमाली कथा' का प्रकाशन जगन्नाथ प्रसाद चौबे के रचनात्मक योगदान व स्मृति को समर्पित है। साहित्य तथा कलाओं की विभिन्न विधाओं में हो रही सर्जना को प्रस्तुत करने के साथ ही उसके प्रति लोकरुचि का सम्मानजनक परिवेश निर्मित करना इस पत्रिका का ध्येय है। बहुलता का आदर और समावेशी रचनात्मकता का आचरण हमारा अभीष्ट है।

'वनमाली कथा' के इस अंक में हमने जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' की जयन्ती को खास बनाने की गरज से पत्रिका के कुछ पृष्ठ उन्हें समर्पित किया है। हम सभी जानते हैं कि वनमाली जी प्रेमचन्दोत्तर कहानी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर तो थे ही, राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध शिक्षाविद् भी थे। इस अंक में उनके शिष्य और ख्यातिलब्ध रचनाकार विष्णु खरे के एक संस्मरणात्मक व्याख्यान को भी शामिल किया गया है। वर्ष 2000 में वनमाली कथा सम्मान के अवसर पर दिये गये इस व्याख्यान की मार्फत वनमाली जी के व्यक्तित्व के कई पहलू सामने आते हैं। इसके अतिरिक्त वनमाली जी की कोई एक प्रतिनिधि कहानी को शामिल करने का खयाल आया तो पसोपेश में पड़े कि उनकी कौन-सी कहानी को रखा जाए। एक मन उनकी सर्वाधिक चर्चित कहानी 'जिल्दसाज' को रखने का हुआ। 'रेल का डिब्बा', 'आदमी और कुत्ता', 'पराया धन' आदि उनकी अन्य चर्चित कहानियाँ हैं। काफी सोच-विचार के बाद हमने 'सन्तरे वाली' को चुना तो इसलिए कि यह कहानी अपने स्तर पर प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र स्कूल के बीच गजब का सन्तुलन कायम करती है। प्रो. कमला प्रसाद के अनुसार, ''चन्दा एक स्त्री जो विधवा किन्तु युवा है। जिस समाज में विधवाओं की अन्तर्वृत्तियों को दबाने और नष्ट करने का क्रूर विधिविधान रहा है, उसमें वनमाली ने चन्दा के खुले जीवन-प्रवाह को चित्रित किया है। चन्दा ठेले में घूम-घूमकर सन्तरा बेचती है। कॉलेज के छात्रावास में युवकों से हँसी-ठिठोली करने के लिए ठेला लगाती है। छात्रों के बीच अबनि नामक युवक इस विनोद में दिलचस्पी नहीं लेता तो समय पाकर चन्दा उसे उकसाती है। पड़ोस में रहने के लिए किराये का कमरा तक देती है।

अबनि में उसके प्रति जैसे ही उत्सुकता जागने लगती है, वह एक कदम आगे बढ़ाने को होता है। दोनों के सुप्त मनोभाव एक-दूसरे से जुड़ने लगते हैं कि चन्दा अपना घर छोड़कर अन्यत्र चली जाती है। किरणों की एक-दूसरे की ओर खिंची तार पीछे लौट जाती है। कहानी में लेखक ने युवकोचित आकर्षण का वातावरण रचा है और उसका अन्त अप्रत्याशित-सा कर दिया है। कदाचित् चन्दा और युवक एक-दूसरे के साथ शरीर-बन्धन में बँध जाते तो कहानी भावुकतावादी हो जाती। यशपाल के प्रायः पात्रों में प्रेम-सम्बन्धों की परिणति शरीर-सम्बन्धों में होती थी जिसे 'चोली-घाघरावाद' कहा जाने लगा था। शायद रचना का यह लक्ष्य प्रेम-विस्तार को बाधित करने-जैसा बन जाता है। वह उसकी प्रवहमानता को रोकता है।''

'फोकस' में इस बार युवा कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ अपनी नयी कहानी के साथ उपस्थित हैं। शामिल कहानी पर नीरज खरे और मनीषा की प्रतिनिधि कहानियों पर लिखा है पंकज सुबीर ने। अन्य कहानियों में इस बार वरिष्ठ रचनाकार मधुसूदन आनन्द की लम्बी कहानी को पढ़ सकेंगे। प्रकाश कान्त और रमाकान्त श्रीवास्तव– दोनों ही कथाकार सँजोकर रखी जाने वाली कहानियाँ लिखने के लिए मशहूर हैं, इस अंक में दोनों की कहानियों को एक साथ देते हुए खुशी हो रही है। 'कथाप्रवास' में इस बार यूके से तेजेन्द्र शर्मा की कहानी शामिल की जा रही है। 'कथाविश्व' के अन्तर्गत बहरीन की फौजिया रशीद की दो छोटी कहानियाँ और 'कथाभारत' में तमिल कथाकार पार्थसारथी की कहानी को सम्मिलित किया जा रहा है। तमिल कहानी का अनुवाद प्रो. धनंजय वर्मा ने हमारे विशेष आग्रह पर किया है।

'दस कविताएँ' स्तम्भ में पाठक इस बार बोधिसत्व की कविताओं को पढ़ सकेंगे। इन कविताओं की पड़ताल की है जितेन्द्र श्रीवास्तव ने।

'कालजयी' हमारा विशिष्ट स्तम्भ रहा है। इस बार इस स्तम्भ के अन्तर्गत आप रमेशचन्द्र शाह के बारे में जान सकेंगे। इसे आत्मीयतापूर्वक लिखा है प्रसिद्ध कलाकार, कथाकार व सम्पादक शम्पा शाह ने। भोपाल ही नहीं, सम्भवतः पूरे हिन्दी प्रदेश में शाह साहब का परिवार इकलौता परिवार है जिसका हर सदस्य हिन्दी का जाना-माना लेखक है।

'कथेतर' में इस बार ओमा शर्मा की डायरी के फुटकर इन्दराजों को शामिल किया जा रहा है। 'उसने कथा था' में जापानी लेखक यूकियो मिशिमा के उद्धरणों को पढ़ा जा सकता है।

पिछले दिनों अपनी तरह की अनूठी आवाज के गायक भूपिन्दर सिंह नहीं रहे। युनूस खान ने उन्हें बड़ी आत्मीयता से याद किया है। 'देशकाल' के अन्तर्गत साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से आप रूबरू हो सकेंगे। आपसे आग्रह है कि इस स्तम्भ के लिए आप अपने शहरों-कस्बों की सांस्कृतिक गतिविधियों की खबर प्रकाशनार्थ भेजें।

'अन्ततः' में वनमाली कथा के प्रधान सम्पादक मुकेश वर्मा का स्तम्भ 'सत्कथा कही नहीं जाती' पहले की कड़ियों की तरह ही सरस व रोचक है।

(कुणाल सिंह)

इनबॉक्स

वह नब्ज जो हर संवेदनशील कलाई में चलती है

'वनमाली कथा' के जून अंक में अनघ शर्मा की कहानी 'तूतनखामेन तुम्हारी नब्ज...' पढ़ी। इस कहानी को पढ़ते हुए और फिर पढ़ लेने के बाद इतना कुछ घुमड़ा कि समझ नहीं आ रहा क्या लिखूँ और अगर लिखूँ तो कहाँ से शुरू करूँ? इतनी सुन्दर और सशक्त कहानी बहुत अरसे के बाद पढ़ी। एक मानसिक तृप्ति का अनुभव हो रहा है। अक्सर कोई भी कहानी पढ़ने के बाद सोचती हूँ कि आखिर लेखक क्या कहना चाहता है! ज्यादातर कहानियाँ इसी पहले प्रश्न को ही पार नहीं कर पातीं। अनघ शर्मा ने खुले मन से इतनी सारी विषय-सामग्री इसी एक कहानी में डाल दी। तूतनखामेन... अपने विषय और उसकी अभिव्यक्ति की दृष्टि से बेहद सार्थक रचना लगी। एक साझे दुख की दोहरी कथा, जो सत्य है, हवा में बुनी हुई नहीं है। एक दर्द की सिम्फनी है यह कहानी। यह कहानी मेरे मन में गूँजती रहेगी। लिखना चाहूँ तो कितना कुछ इसके विषय में लिखती जा सकती हूँ। कई पन्ने पर पन्ने। इस कहानी का आरम्भ ही बेहद प्रभावशाली है। भाषा की गहराई और खूबसूरती बाँधे रखती है। कई पंक्तियाँ पढ़ते हुए ठिठक गयी और रुककर फिर-फिर पढ़ी। इस कहानी की नब्ज मैं अपनी कहानियों की कलाई में भी उतार सकूँ, यही चाहत उठी। इस रचना को पढ़ना और इसी बहाने 'वनमाली कथा' पत्रिका और उसकी टीम से भी परिचय हो जाना, सुखद अनुभव है। आपको बधाई और शुभकामनाएँ कि आप वनमाली के माध्यम से इसी प्रकार की उत्कृष्ट रचनात्मक राह पर आगे बढ़ते रहें।

– अनिल प्रभा कुमार, यूएसए

तूतनखामेन की नब्ज

आज सुबह-सुबह 'वनमाली कथा' में एक कहानी पढ़ी, काफी देर से कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ। कहानी ने मुझे निःशब्द कर दिया है। निज से परदुःख कातर होती यह कहानी संवेदनशीलता को रेखांकित करती है। व्यष्टि से समष्टि की ओर जाती यह कहानी है– 'तूतनखामेन तुम्हारी नब्ज किस कलाई में चल रही है' और विशिष्ट कहानीकार हैं अनघ शर्मा। अनघ के कहानीकार को मैं शुरू से देख रही हूँ। मैंने तकरीबन उनकी सारी कहानियाँ पढ़ी हैं। अनोखी भाषा, विशिष्ट कहन-शैली। दुःख की अभिव्यक्ति उनकी कहानियों की अन्तर्धारा है। मगर 'तूतमखामेन...' उनकी अन्य कहानियों से हट कर है। हर आदमी सोचता है उसका दुःख सबसे बड़ा, सबसे अधिक और सबसे सघन है। वह अपने ही दुःख में डूबा रहता है, एक तरह की आत्मरति। लेकिन जब वह अपने दुःख से आँख उठा कर दूसरे के दुःख में सम्मिलित होता है, तो सारा समीकरण गड़बड़ा जाता है। अपनी सन्तान खोने का दुःख दूसरे उतना नहीं जान सकते हैं, जितना माँएँ जानती हैं। सन्तान खोने वाले पिता के दुःख और उनसे उनका लड़ना बिल्कुल अलग तरह का होता है। संयोग है ऐसी ही एक कहानी अनुवाद कर रही हूँ जहाँ पिता ने अपना किशोर पुत्र खोया है। पर अभी अनघ की कहानी 'तूतनखामेन...' देखें। इन कहानी में सन्तान खो चुकी दो स्त्रियाँ जब निकट आती हैं तो उनका साझा दुःख सघन हो जाता है। एक स्त्री ने अपनी अपंग सन्तान हादसे में खोई है और दूसरी स्त्री ने अपने दो बेटे दूसरे की क्रूरता के शिकार में गँवाये हैं। दोनों पिता का दुःखों से लड़ने का तरीका भिन्न है। स्त्रियों में बहनापा जल्द हो जाता है। भले ही एक स्त्री उत्तरप्रदेश की हो और दूसरी मणिपुर की। वे आपस में संवाद करती हैं, एक-दूसरे के दुःख को शिद्दत से महसूस करती हैं। तब उनमें से एक स्त्री अन्याय के खिलाफ कमर कस लेती है। इस स्त्री की दूसरों की सहायता के लिए किया गया प्रयास उसके पति का रुख भी मोड़ देता है। जब आप एक अच्छा कार्य निःस्वार्थ भाव से करने निकलते हैं तो पूरी कायनात आपकी सहायता को आ जुटती है। आशा है शिप्रा की आवाज दूर तलक जाएगी और अल्लो के बेटों की तरह होने वाली हानि से अन्य माताओं को बचाने की अपनी कोशिश में वह कामयाब हो पायेगी, उसकी आवाज सुनी जाएगी।

– विजय शर्मा, जमशेदपुर (झारखंड)

उमाशंकर चौधरी ध्यान दें

बहुत संकोच के साथ यह पत्र लिख रहा हूँ। 'वनमाली कथा' के जून अंक में उमाशंकर चौधरी की कहानी 'एक नक्शा एक ख्वाब और कुछ तितलियाँ' मैंने बहुत एकान्त का समय नियत करके पढ़ी। लम्बी कहानी पर फोकस भी किया है आपने। लेकिन सचमुच राम-राम कहकर अन्त तक पहुँचा। हिन्दी कहानी में यह कौन-सा प्रयोग बढ़ रहा है जो मेरे-जैसे पाठक को भी नहीं जोड़ पाता। क्या ऐसी कहानियों से ही हिन्दी का पाठक और दूर नहीं होता जा रहा? आप तो कोलकाता में रहे हैं, बंगाल की आज की कहानी में भी एक सिलसिलेवार कथा-तत्त्व होता है जो आमजन की रोजाना की जिन्दगी से जुड़ा हुआ है। पाठक को कुछ तो चाहिए! इतनी लम्बी कहानी के सिर-पैर को पकड़ने का धैर्य मुझे लगता है उसके पास नहीं। शायद हिन्दी आलोचना में ईमानदारी की कमी बढ़ती जा रही है और उसी का अंजाम है हिन्दी की लोकप्रियता, पठनीयता में भारी गिरावट। हम सबको मिलकर पाठक की नब्ज समझने की जरूरत है, न कि अपने-अपने गुम्बदों में बैठकर अपने को सिर्फ महान बनाने के लिए ऐसी प्रयोगधर्मिता की। आप सबके लिए शुभकामनाएँ।

– प्रेमपाल शर्मा, नयी दिल्ली

नीलाक्षी सिंह की कहानी

'वनमाली कथा' के जून अंक में नीलाक्षी सिंह की कहानी 'खिड़की नम्बर तीन का बयान' पढ़ी। हर बार की तरह नीलाक्षी सिंह की इस कहानी को भी पढ़ते हुए एक बेचैनी हर वक्त साथ रही, हमचाल रही। इस कहानी में नीलाक्षी सिंह ने नायक रोशनलाल के माध्यम से जीवन के उस पक्ष कि जिसमें अँधेरे के बाद उजाला होता है, उसके भी आगे जाकर उजाले की रेखा के नीचे छिपी, सोयी सियाही को दिखाया है। ये कहानी भावना के अन्तर्द्वन्द्व को बिना किसी मेलोड्रामा, रस्साकशी के पाठक के सामने खोलती है। इस कहानी के नायक का अपनी माँ के वजूद, उसकी मौजूदगी को लेकर जो डिनायल है, और उसके जाने के बाद उसके अन्दर एक तरह के आये गिल्ट को जैसे दिखाया गया है, वह इस कहानी को बहुपरतीय बनाता है। नीलाक्षी सिंह को पढ़ते हुए ये सीखने को मिलता है कि कैसे अपने पात्रों के प्रति मानवीय और संवेदनशील बना जा सकता है। कहानी में सरिता कुमारी की उपस्थिति भी इसी संवेदनशीलता को दर्शाती है कि जीवन में कहीं कोई ऐसा भी हो सकता है जो बीते हुए समय में आपके लिये हुए निर्णयों के कारण आपके प्रति जजमेंटल नहीं होगा। इस कहानी की सबसे सुन्दर और जरूरी बात मुझे

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

ई-7/22, एस.बी.आई., अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016
मोबा.: 8269593844, 9893100979
ई-मेल: vanmali@aisect.org, kunal.singh@aisect.org

सदस्यता फार्म

सदस्यता संख्या ..... दिनांक .....

नाम : .....

पता : .....पिन.....

फोन/मोबाइल : .....ई-मेल: .....

मैं 'वनमाली कथा' का वार्षिक सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ।

माह..... से प्रारंभ वार्षिक सदस्यता शुल्क...../- (मात्र) ड्रॉफ्ट/चेक द्वारा भेज रहा/रही हूँ। कृपया पत्रिका उपरोक्त पते पर भेजें।

(भुगतान 'वनमाली' नाम से देय होगा।)

Bank A/c No. 40865384472, IFSC Code: SBIN0003867
Bank Name: State Bank of India, Branch: Mahavir Nagar, Bhopal (M.P.)

हस्ताक्षर

वार्षिक शुल्क- ₹500

.....✂.....✂.....✂.....

प्राप्ति प्रपत्रक दिनांक.....

नाम :.....पता: .....

प्राप्ति का विवरण : माह..... से प्रारंभ वार्षिक सदस्यता शुल्क..... /- (मात्र)

विक्रय अधिकारी

यह लगी कि एक पागल माँ के बेटे के रूप में नायक की माँ के प्रति जो निर्लिप्तता है, उसे लेकर नायक को नेगेटिव नहीं बनाया / दिखाया गया है। जबकि अमूमन एक मानसिक रूप से कमजोर चरित्र के प्रति सहानुभूति रखते हुए हम दूसरे चरित्रों के प्रति कठोर हो जाते हैं। नीलाक्षी सिंह कहानी के नायक को इस मुश्किल से बेहद सरलता से बाहर निकाल ले गयीं। ये एक लम्बे वक्त तक याद आने और टेक्स्ट के रेफरेंसेस में रहने वाली कहानी है। नीलाक्षी जी को इस कहानी के लिए बहुत बधाइयाँ।

– अनघ शर्मा, मस्कट

हेमन्त कुकरेती की धारदार कविताएँ

'वनमाली कथा' के जून अंक में हेमन्त कुकरेती की कविताओं में नये युगीन संकटों पर कलम की वही पुरानी धारदार नोंक दिखी। इन कविताओं में परम्परा और समकालीनता, साहित्यिक-सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक कुचालों के साथ इतिहास की विवेक यात्रा, जिसमें लोकजीवन/ लोकचेतना की तबाही की कथा भी सम्मिलित है। जबकि कवि कह रहा है– 'पहले जैसे ही हैं डर/ उठ रहा है पहले जैसा ही धुआँ/ मचा हुआ है शोर पहले-जैसा ही'। यहाँ विडम्बनाएँ व्यंग्य बन जाती हैं– 'कैसा समय है, फिल्मों से ज्यादा कला है दैनिक भविष्यफल में'। हेमन्त कुकरेती बड़े कौशल से इसे उलटबाँसी का रूप दे देते हैं कि– 'अर्थशास्त्र में क्यूँ है इतनी राजनीति/ भाषा में क्यूँ नहीं है सफाई/ इतिहास में क्यूँ अन्धी सुरंगें हैं/ गणित में कैसे आ गये नाटक के अमूर्त दृश्य?' सभ्यताओं के संघर्ष से अनिवार्य नियति की उपज और मनुष्यता के खत्म होने का संकट इन कविताओं में काले रंग और काली रात के मोटिफ रूप में बार-बार उभरते हैं। कवि कहता है– 'इतनी बुरी भी नहीं है यह दुनिया/ इसमें सफेद से ज्यादा चमकता है काला/ बस यही कमी है'। वीरेन डंगवाल जी याद आते हैं। उनके यहाँ भी समय और समाज में चारों ओर छायी कालिमा के लिए कालजयी पंक्तियाँ हैं– 'किसने आखिर ऐसा समाज रच डाला है, जिसमें बस वही दमकता है जो काला है'। ...समय-सजग बनाती ये कविताएँ जिजीविषा के उस हौसले और उम्मीद को भी जिन्दा रखती हैं जहाँ कवि की अन्वेषित आँखें प्रकृति के संघर्ष को देखती और वहाँ से प्रेरणा पाती हैं, अपने ही फैलाये अँधेरे को समेटने का जिगरा पाती हैं– 'यही जीवन था/ जो जाने कहाँ/ अपने फैलाये अँधेरे में/ ओझल था'। जीवन से हारता नहीं वह, अदम्य स्रोत तक पहुँचकर विहँसता है– 'झरते हुए पत्तों के पीछे भी हरा है'।... हरेपन की यह तलाश बाकी रहे हेमन्त जी आपमें, हम सब तक यह हरियाली पहुँचती रहे, बहुत-बहुत बधाई आपको इन कविताओं के लिए। 'वनमाली कथा' का यह अंक उत्कृष्ट कहानियों के लिए भी स्मरणीय रहेगा, जिसमें रजनी गुप्त, अनघ शर्मा, उमाशंकर चौधरी, नीलाक्षी सिंह जी की शानदार कहानियाँ हैं, जिन पर फिर कभी। सम्पादक और उनकी टीम को इस खूबसूरत पत्रिका के सम्पादन के लिए बधाई।

– रूपा सिंह, नयी दिल्ली

पंकज मित्र के भुर्ईलोटन

'यह वक्त की सितमजरीफी कही जाएगी कि जितना दबंग नाम था, उतने शर्मीले थे बाबू भुर्ईलोटन सिंह'। यहाँ से शुरू होती है कहानी। पंकज मित्र ने अपनी इस कहानी में गजब का चरित्र गढ़ा है, हास्य चरित्र से शुरुआत करके अन्त तक इस किरदार को अद्भुत तरीके से गम्भीर और सशक्त बनाया है। संवेदनशीलता के स्तर पर उत्कृष्ट कहानी है। सुहाना का पढ़ाई छोड़कर गायब होना, उसका निकाह... भुर्ईलोटन की उदासी और पीड़ा इस कहानी को बेहद मार्मिक बना देती है। 'वनमाली' का अप्रैल अंक पलट रही थी, पंकज मित्र की इस कहानी पर नजर पड़ी, सोचा बाद में तसल्ली से पढ़ूँगी, पर इस कहानी ने हमें तुरन्त पढ़ने को बाध्य कर दिया। एक साँस, एक बैठक में पढ़ गयी– भुर्ईलोटन का भलेंटाइन। एक अच्छी कहानी के लिए पंकज मित्र को बहुत-बहुत बधाई। 'वनमाली' की टीम को भी बधाई।

– ममता सिंह, मुम्बई

वनमाली के सारे अंक एक साथ

'वनमाली कथा' ने प्रवेशांक से ही हिन्दी समाज का ध्यान खींचा है। एक दिन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली के स्टॉल से इसके सारे उपलब्ध अंक खरीद लाया। प्रवेशांक सारा बिक चुका था। कुणाल जी से बात हुई तो उन्होंने भी बताया कि प्रवेशांक अब उपलब्ध नहीं। जून अंक में फोकस के अन्तर्गत उमाशंकर चौधरी की बेहतरीन कहानी 'एक नक्शा एक ख्वाब और कुछ तितलियाँ' पढ़ रहा हूँ। सभी अंक पढ़कर विस्तार से लिखूँगा। आजकल लघु पत्रिका निकालना बहुत जोखिम का काम है, इसलिए बहुत-सी पत्रिकाएँ बन्द हुईं, तो जोखिम लेकर कुछ नयी पत्रिकाएँ शुरू भी हुई हैं। मुझे नहीं लगता, 'वनमाली कथा' को इस प्रकार के किसी संकट का सामना करना पड़ेगा। वैसे भी कुणालजी ने बताया कि पत्रिका की प्रसार-संख्या अच्छी हो गयी है। इस पत्रिका का स्वागत है। अच्छी-अच्छी कहानियाँ हमारे लिए हर महीने किसी दावत से कम नहीं होंगी। पत्रिका से जुड़े समस्त साथियों को बधाई और शुभकामनाएँ।

– जी.सी. बागरी, नयी दिल्ली

जयन्ती

जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली'

चालीस से साठ के दशक के बीच 'वनमाली' हिन्दी कथा-जगत के एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। वर्ष 1934 में उनकी पहली कहानी 'जिल्दसाज' कलकत्ता से निकलने वाले 'विश्वमित्र' मासिक में छपी और उसके बाद लगभग पचीस वर्षों तक वे प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं, यथा– सरस्वती, कहानी, विश्वमित्र, विशाल भारत, लोकमित्र, भारती, माया, माधुरी आदि में नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे। अनुभूति की तीव्रता, कहानी में नाटकीय प्रभाव, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक समझ और विश्लेषण की क्षमता के कारण उनकी कहानियों को व्यापक पाठक-वर्ग और आलोचकों, दोनों से सराहना प्राप्त हुई।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने श्रेष्ठ कहानियों के अपने संकलन में उनकी कहानी 'आदमी और कुत्ता' को स्थान दिया था। उन्होंने करीब सौ से ऊपर कहानियाँ, व्यंग्य-लेख एवं निबन्ध लिखे। कथा-साहित्य के अलावा उनके व्यंग्य और निबन्ध भी खासे चर्चित रहे हैं।

जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली'

मित्र, शिक्षक और एक अप्रतिम कथाकार

विष्णु खरे

1956-57 का वह वर्ष है, जो मैं समझता हूँ कि मेरे पूरे जीवन में एक खासा महत्त्व रखता है। इस 1956-57 के वर्ष में दो व्यक्ति मेरे जीवन में केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं। एक तो बहुत स्वाभाविक ही है कि मेरे पिताजी, लेकिन दूसरा व्यक्ति जो मेरे जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ता है, वो हैं जगन्नाथ प्रसाद चौबे। 1956 तक में पिपरिया में पढ़ रहा था गवर्मेन्ट स्कूल में। मेरे पिताजी वहाँ साइंस के लेक्चरर थे, सरकारी स्कूल में। मैं उनसे नाराज होकर अमरावती भाग गया। यानी दूर से लड़कर, पास से लड़ने की तो हिम्मत भी नहीं थी। फिर मैं 56 के मैट्रिकुलेशन के इम्तिहान के बाद खंडवा आया, जहाँ मेरे पिता का तबादला हुआ था साइंस के लेक्चरर के रूप में और खंडवा के स्कूल में प्रिंसिपल थे– ज.प्र. चौबे। मेरे पिताजी उसी स्कूल में लेक्चरर थे और उसका बहुत महत्त्व है। मेरे जीवन की एक केन्द्रीय घटना है, जिसमें इन दोनों का वहाँ होना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

बहरहाल, 1956 में मैंने लिखना शुरू कर दिया था और 'सारथी' नाम का जो एक साप्ताहिक नागपुर से निकलता था उस वक्त, द्वारिकाप्रसाद मिश्र उसके सम्पादक थे और गजानन माधव मुक्तिबोध उसके साहित्य सम्पादक थे। उसमें मेरी कहानियाँ और कुछ व्यंग्य और दो-तीन प्रारम्भिक कविताएँ छपने लगीं। अब ये था कि मुझे पता नहीं था कि मेरे प्रिंसिपल साहब चौबे जी की दिलचस्पियाँ क्या हैं? लेकिन उन्हें मालूम पड़ा कि मैं लिखता हूँ और उन्होंने मुझे बुलाया– विष्णु! तुम लिखते हो? मैंने कहा– जी हाँ, साहब! कोशिश करता हूँ। उस दिन से उन्होंने मेरी चीजें देखनी शुरू कीं और धीरे-धीरे हम लोग– मैं विद्यार्थी, वे प्रिंसिपल, हम लोगों में करीबन तीस-पैंतीस साल का फर्क रहा होगा, लेकिन धीरे-धीरे हम लोग मित्र बन गये। 1956-57 में मेरे सबसे बड़े मित्र ज.प्र. चौबे थे।

मेरे पिता, जिन्होंने पूरी जिन्दगी में मुझसे सिर्फ बीस वाक्य बोले। मैं उन्हें लिख सकता हूँ इस

वक्त। इक्कीसवाँ उन्होंने मुझे लफ्ज नहीं कहा और उनके बिल्कुल विरोधाभास में उसी स्कूल का प्रिंसिपल, हम लोग, लगभग हर दूसरे दिन मिलते थे। क्लास में मेरे शिक्षक थे वो। मेरा सौभाग्य था कि मैं अँग्रेजी में अच्छा था। मैं उनकी क्लास में बैठता था और शाम को उनके घर जाता था। संतोष चौबे उस वक्त डेढ़-दो साल के थे। मुझे इनकी याद है। ये बहुत ही गोरे हुआ करते थे उस वक्त और चौबे जी ने इन्हें चूड़ीदार पायजामा और कुर्ता सिलवाया था। मैंने जिन्दगी में कोई बच्चा चूड़ीदार पायजामा में नहीं देखा था।

मैं घर जाता था और मुझे हैरत होती थी और बड़ी एक अजीब फीलिंग होती थी कि चौबे साहब की सात बेटियाँ थीं और ये आखिरी बेटे थे। तो मैं तब सोचता था कि इस आदमी का गुजारा कैसे चलेगा? ये चिन्ता मेरे मन में रहती थी, लेकिन चौबे जी के मन में यदि ऐसी कोई चिन्ता थी भी तो मेरे साथ उनकी बातचीतों में कभी नजर नहीं आई। वो लगातार मुझसे न सिर्फ साहित्य की बातें करते थे, बल्कि समाज की बात करते थे और शायद आपको आश्चर्य होगा कि वे बहुत ही गम्भीरता से किशोरवय के सेक्स की बात भी करते थे और उसमें कोई अश्लीलता नहीं थी। उसमें कुछ गैरवाजिब नहीं था, वो इतनी हेल्दी होती थीं कि लगता रहा कि हम कोई साइंटिफिक बात कर रहे हैं। पर ये अनायास होता था, कोई एजेंडा नहीं होता था।

मेरे पिता ने शायद मेरी एक भी चीज नहीं पढ़ी। वे इंकार करते रहे पढ़ने से और मैं इंकार करता रहा उन्हें दिखाने से। मुझे अब भी अपने परिवार वालों को अपना लेखन दिखाने से बहुत नफरत है। मैं अपनी पत्नी और अपने बच्चों को अपना लिखा कुछ नहीं दिखाता। मेरे पिता उसको देखना नहीं चाहते थे, लेकिन मेरे पास एक ऐसा व्यक्ति था, जो न सिर्फ मेरे लिखे को देखना चाहता था, बल्कि उसको पढ़ना चाहता था और मुझसे बात करना चाहता था। उन्होंने मुझे इतना प्रोत्साहित किया लिखने को कि 56-57 के उस साल में शायद 'सारथी' में मेरी दस-बारह कहानियाँ छपी होंगी– कहानियाँ। मैं मूलत: कहानीकार था। दो कविताएँ छपी थीं। एक बड़ी कविता थी, एक छोटी कविता। एक-दो व्यंग्य छपे थे, परन्तु व्यंग्य का बड़ा दिलचस्प किस्सा है।

'सारथी' में जब व्यंग्य छपा, तो मैंने उसका शीर्षक दिया था– 'मिनिस्टर की डायरी'। कुल मिलाकर यह कि मैं घूमने जा रहा हूँ और एक घूरे पर मुझे एक डायरीनुमा चीज मिलती है। मैं उसको उठा लेता हूँ और पाता हूँ कि वो हवाला कांड से जुड़ी एक जैन डायरी है– 57 की बात कर रहा हूँ और देखता हूँ तो मिनिस्टर साहब के बहुत सारे इन्दराज नजर आते हैं और मैं उसको व्यंग्य में बदल देता हूँ। छप तो गया 'सारथी' में। उस वक्त मेरा तखल्लुस शैलेष हुआ करता था। छपा। नागपुर जो है, राजधानी थी उस वक्त। आखिरी दिन थे राजधानी के। अब यह था कि हमारे आगे भगवन्त राव अनन्तराव मंडलोई थे। वो मिनिस्टर थे। अब ये लेख छपा 'सारथी' में। डी.पी. मिश्रा उन दिनों विद्रोही थे। सरकार में भी थे। मंडलोई साहब की निगाह में लाया गया कि– यार! ये क्या है? खंडवा से ये लेख छप रहा है, निस्सन्देह आपके बारे में होगा।

उन्होंने तलाश करना शुरू किया कि लिखा किसने है। बढ़ते-बढ़ते बात पहुँची कि ये गवर्मेन्ट स्कूल के एक लड़के ने लिखा है, तो क्या मास्टर जी ने लिखा है या लड़के ने लिखा है? चौबे जी को तलब किया गया कि तुम्हारे स्कूल में ये कैसा बदतमीज लड़का पढ़ रहा है, जो कि मंडलोई जी पर व्यंग्य लिखता है? उन्होंने फौरन बुलाया कि विष्णु! तुमने क्या लिख दिया ये? अरे भई। मुझे कल रम्मू भैया (मंडलोई जी के लड़के) ने तलब किया था और कल वे कह रहे थे कि तुमने कोई लेख लिखा है, मिनिस्टर की डायरी ऐसा कुछ? मैंने कहा– जी हाँ। अँग्रेजी में लिखा है? जी हाँ। बोले– यार! तुम करते क्या हो? कहा– आप देख लीजिये। बोले– बात करते हैं उस पर। शाम को बुलाया अपने घर। पर हँसते रहे, कहा कि क्या करूँ इसका मैं? मैंने कहा– कह दीजिये कि बड़ा सरफिरा बदतमीज लड़का है। वो मेरी बात मानता नहीं है। अब आखिरी साल है उसका, लिखने दीजिये, चला जायेगा उसके बाद स्कूल से। पर उन्होंने मुझे सचेत किया कि देखो, ये चीजें शायद कभी तुम्हारा कोई नुकसान कर दें। उससे यह हुआ कि पहली बार मैंने जाना कि चौबे जी भी लेखक हैं।

एक बहुत बड़ी बात थी चौबे जी में। वे अपने लेखक को अपनी कलाई पर नहीं बाँधते थे कभी। कोई नहीं जानता था– जे.पी. चौबे का नाम। खंडवा में शायद माखनलाल चतुर्वेदी जानते रहे होंगे तो जानते रहे होंगे, लेकिन मैंने चौबे जी के मुँह से माखनलाल जी का बहुत ज्यादा जिक्र कभी नहीं सुना। साफ बात है, वे उनके यहाँ जाते ही बहुत कम थे। उनका स्कूल उनका किला था। उन्होंने ये कहा कि तुम्हें जो मन में आये लिखो, लेकिन केवल सावधानी से लिखो। फिर उन्होंने मुझे अपनी दो-तीन कहानियाँ देखने को दीं और शायद एक सुनाई।

इतना तो मैं उनके विश्वास में आया। उसके बाद वे लगातार मुझे डिबेट्स में और कविता प्रतियोगिता में, निबन्ध प्रतियोगिता में भेजते रहे, पर मैं बहुत ही मोनोटॉनी से प्रथम पुरस्कार जीतता रहा उन सबमें और लगातार वे मेरी नुमाइश करते रहे। जब भी मैं कोई शील्ड जीतकर आता था तो मुझे मालूम था कि कल

क्या करना है। असेम्बली होती थी, वहाँ मुझे खड़ा कर दिया जाता था असेम्बली के सामने और शील्ड बगल में रख देते थे और फिर पाँच मिनट तक मेरे बारे में कहते थे। इस पूरे मंजर पर मैंने कविता लिखी है, जो कि मेरी दूसरी किताब में है। मैंने उनका नाम बदल दिया है। मैंने उनको मुचकुन्द प्रसाद मकरन्द कह दिया है उसमें।

उन्होंने कभी भी कोई भी सलाह नहीं दी कि तुम लाया करो, दिखाया करो– कभी नहीं। तुम लिखते हो तो लिखो। तो यह बहुत बड़ा उन्होंने मेरे लिए काम किया, जिसने मुझे बहुत उत्साह दिया। उसी दिन, उसी वक्त, उसी साल खंडवा के स्कूल में निर्णय लिया गया कि स्कूल की पत्रिका निकाली जायेगी। 'जागृति' उसका नाम था। तो सम्पादक तो मुझे बनना ही था। सम्पादक मैं बना। मेरा बहुत बड़ा फोटो छापा चौबे जी ने उसमें, वही शील्ड लिये हुए।

लेकिन जो सबसे बड़ा वरदान मुझे दिया उस मैग्जीन का सम्पादक बनाकर, कि वे मुझे प्रेस की दुनिया के सम्पर्क में ले आये औ पहली बार मैंने जाना कि प्रिंटिंग प्रेस क्या होती है! पहली बार मैंने जाना कि प्रेस का मालिक क्या होता है, कम्पोजीटर क्या होता है, लैब क्या होता है, कनवर्जिंग कैसे होती है, प्रूफ रीडिंग कैसे होती है, छपाई कैसे होती है, किताब बनकर कैसे आती है। वह दुनिया पहली बार उन्होंने खोली मेरे सामने और उस दुनिया में मैं अब तक मुब्तिला हूँ। 1956-57 का प्रेस से वो परिचय अब तक चला आता है। मैं प्रेस में इतना गहरा धँस जाऊँगा, मुझे उसका अन्दाजा नहीं था। लेकिन मेरी दुनिया थी, वो स्याही की बू आती थी, वो कागज की खुशबू आती थी और एक बहुत बूढ़ा कम्पोजीटर चश्मा लगाये हुए और उसके मालिक का नाम साद भाई था। अजीब नाम था। मराठा था वह। उससे मराठी बोलता था मैं और उस अनुभव पर मैंने सबसे पहले एक कहानी लिखी। उसका नाम था– 'दो शिकायतें एक कहानी'। ये 'कहानी' पत्रिका, जो बहुत प्रसिद्ध थी उस वक्त, उसमें छपी, लेकिन उसके पहले मेरी और एक कहानी छप चुकी थी– 'भिखमंगे', जो कि चौबे साहब ने देखी थी और उसको सराहा था।

अब यह था कि उन्होंने हमेशा मुझे बराबरी का दर्जा दिया, लेकिन मैं कभी इतना बदगुमान नहीं हुआ कि मैं कोई बदतमीजी करूँ उनसे या कोई लिबरटी लूँ उनसे। एक काम उन्होंने मेरे लिए और किया। वो जमाना था जबकि अमेरिका और पश्चिम से कई शिक्षण विशेषज्ञ आया करते थे। एक एलसोर्ख क्लाईहोवर नाम के सज्जन आये थे, और चूँकि अँग्रेजी में अच्छा था तो चौबे जी ने मात्र मेरी ड्यूटी लगायी थी कि

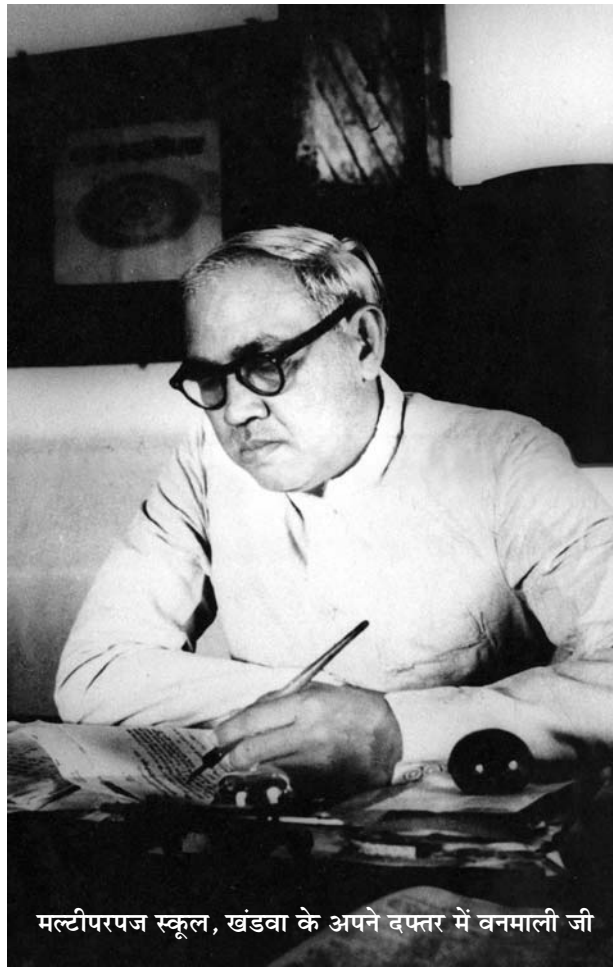

मल्टीपरपज स्कूल, खंडवा के अपने दफ्तर में वनमाली जी

तुम इन अतिथियों के साथ रहोगे हमेशा। चार दिन तुम इनको छोड़ना मत। तुम इनसे बात करो, इन्हें घुमाओ-फिराओ, मदद करो। पहली बार अँग्रेजी चौबीस घंटे बोलने का मौका मुझे उस तरह उन्होंने दिया और मेरा बहुत बड़ा संकोच और झिझक उन्होंने खोली।

आप एक कल्पना कीजिये कि मेरे पिता उनके मातहत थे और चूँकि मेरे पिता बहुत सीनियर लेक्चरर थे बॉयोलाजी, मैथ्स, फिजिक्स, केमिस्ट्री के और अपने जमाने के बेहतरीन शिक्षक थे। अब भी उनके छात्र उनको जादूगर कहते हैं और मेरी इज्जत जो छिन्दवाड़ा में है, वह एक तो मेरे ग्रैंड फादर की वजह से है और दूसरे मेरे पिता, जो कि अब भी याद किये जाते हैं। तो मेरे पिता उस समय जो लेबोरेटरी होती है, वो उसके राजा थे। चूँकि मिलेट्री के आदमी थे, बहुत चुप रहते थे, लेकिन बहुत अच्छे टीचर थे, इसलिए किसी को कुछ समझते नहीं थे। अकेले आते थे घर से। हमसे तो बात करते नहीं थे। लेबोरेटरी मे जाकर बैठ जाते थे। क्लास में गये, लेबोरेटरी में

गये, वापस चले आते थे दस्तखत करके रजिस्टर में।

एक बार क्या हुआ! अब मुझे लगता है कि एक मिस्टिरियस, एक व्यक्तिगत क्लैश हुआ मेरे पिता और चौबे जी के बीच में, क्योंकि चौबे जी बहुत अनुशासनप्रिय थे और चौबे जी सरकशी बर्दाश्त नहीं करते थे और मेरे पिता मातहती बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। ये दो इरिकंसाइलेबल थे। इनका मेल नहीं हो सकता था। इतने रेग्युलर थे मेरे पिता कि कभी कोई क्लास मिस नहीं करते थे। यानी वो शिक्षक बनने के लिए पैदा हुए थे। हुआ यह कि एक बार शायद मेरे पिता दो मिनट लेट हो गये होंगे और रजिस्टर पर बिना दस्तखत किये हुए क्लास में चले गये सीधे। चौबे जी शायद ताक में रहे होंगे कि सुन्दरलाल खरे से कोई गलती हो और में बतलाऊँ उसको। अब एक जीनियस क्लास ले रहा है और उसके सामने चपरासी जो है, उसको टोकता हुआ कि साहब ने दस्तखत करने के लिए भिजवाया है। मेरे पिता ने रजिस्टर लिया, दो टुकड़े किये और भेज दिया। कहा– ले जाओ, हो गये दस्तखत। मगर उस समय 56 में ऐसी हुक्मअदूली! चौबे जी ने तत्काल ये निर्णय लिया कि अब सुन्दरलाल खरे नाम का ये जो बदतमीज शिक्षक है, यहाँ नहीं रह सकता। या तो ये रहेगा या मैं रहूँगा। तमाम स्कूलों में देखा है कि क्या हुआ है और ये तो सरकारी डाक्युमेंट था हाजिरी रजिस्टर, इसके टुकड़े करना तो क्राइम है।

उस समय हमारा स्कूल बी.टी. कॉलेज के अन्दर हुआ करता था और बी.टी. कॉलेज के के.एम. बख्शी प्रिंसिपल थे, जो मेरे पिता के साथ ही पढ़े हुए थे नागपुर में। उन्होंने जाकर बख्शी साहब से कहा– साहब, हटाइये इस आदमी को। तो उन्होंने कहा– चौबे जी! ये तो मेरे साथ मेरा जूनियर रह चुका है और बहुत ही अच्छा शिक्षक है। हाँ, बहुत अच्छी बात है, मैं सब जानता हूँ लेकिन बदतमीज बहुत है ये आदमी। इसने ये किया है। तो उन्होंने बहुत भारी मन से मेरे पिता का तबादला कर दिया। मेरे पिता का हाल यह था कि उन्हें बाहर भी मालूम पड़ जाये कि तबादले का नोटिस आ रहा है, तो वे रिलीव होने की अर्जी दे देते थे। उनका किसी जगह से कोई मोह नहीं था। तबादले का आदेश आया, रिलीव हो गये उसी शाम को। सामान बाँध लिया। हर बार यही करते थे वो, चौबे जी हों या और कोई हो, ट्रांसफर हो उसी दिन चले जाना शहर छोड़कर। सामान बँध गया। स्कूल में टेन्थ और इलेवन्थ क्लास वालों ने हड़ताल कर दी। मैं इलेवन्थ में था। मैंने हड़ताल नहीं की। हड़ताल हुई। लड़के मार्च करते हुए बी.टी. कॉलेज गये, जो कि खासा दूर है स्कूल से। कोई तीन मील दूर। वहाँ डिमोंस्ट्रेशन दिया। तो बख्शी साहब को बड़ा मान था। उन्होंने कहा– नहीं-नहीं, ट्रांसफर रोकूँ कैसे? रिलीव हो गया वो आदमी। वो तो जा रहा है! अब क्या होगा? उसने तो खुद रिलीव माँग लिया।

इस घटना ने मेरे पिता को भेज दिया अम्बिकापुर। वे चले गये। मैं खंडवा रह गया और खंडवा रह जाने ने मेरा जीवन बदल दिया, लेकिन उसके बाद भी चौबे जी से मिलता रहा, वे मुझे बुलाते रहे। उन्होंने सिर्फ एक बार कहा– यार! तुम्हारा बाप बहुत टेढ़ा आदमी है। मैंने कहा– साहब! आप मुझसे कह रहे हैं! मेरे पिताजी ने कभी ऐतराज नहीं किया कि तुम जे.पी. चौबे के यहाँ क्यों जाते हो! कभी नहीं कहा। चौबे जी ने उसका बुरा नहीं माना कि मेरे पिता ने ये किया और मैंने इसका बुरा नहीं माना कि चौबे जी ने मेरे पिता का ट्रांसफर किया, क्योंकि मैं जानता था कि दोनों सही हैं अपनी-अपनी जगह पर। चौबे जी उसको कैसे बर्दाश्त कर सकते थे और मेरे पिता उसको कैसे? मैं जानता हूँ मेरे पिता कैसे आदमी हैं, वे उससे बुरी-बुरी चीजें कर चुके थे, ये तो बहुत मामूली बात थी। उन्होंने एक बार डिस्ट्रिक्ट जज के लड़के को– हमारे साथ लड़कियाँ पढ़ती थीं तो एक डिस्ट्रिक्ट जज का लड़का था, उसका नाम था हनीफ। हनीफ ने क्या किया? कि हनीफ ने लड़कियों को छेड़ने के लिए, जब वो आ रही थीं, तो दरवाजा बन्द कर दिया। मेरे पिता अपनी आँखों से देख रहे थे। उन्होंने चुम्बक उठाकर उसको मारा। माथा खोल दिया हनीफ का। डिस्ट्रिक्ट जज का बेटा, जो बाद में पाकिस्तान चला गया और पाकिस्तान की तरफ से यूनाइटेड नेशंस का नुमाइन्दा था हनीफ। उसका सिर खोल दिया, लेकिन हनीफ ने चूँ नहीं किया, क्योंकि वह जानता था कि उसने क्या किया है।

बहरहाल, यह बात थी कि मेरे पिता तो चले गये और मैं वहाँ रह गया खंडवा में, लेकिन चौबे जी से मेरा इंटरैक्शन लगातार बना रहा। स्कूल मैग्जीन आई। मैं फर्स्ट क्लास में आया। मुझे अँग्रेजी में मध्यप्रदेश में सबसे ज्यादा नम्बर मिले। चौबे जी के हाथों मुझे गोल्ड मैडल मिला– सुमित्रा गोल्ड मैडल, जो शायद अब भी खंडवा में दिया जाता है। कोई सुमित्रा साहब कुछ हजार रुपये छोड़ गये हैं, उसका जो भी ब्याज बनता है वो आदमी सबसे ज्यादा नम्बर पाता है अँग्रेजी में, उसको मिलता है। उन्होंने कह दिया था कि तुम्हें मिलेगा। उन्हें यह यकीन था। वे मेरी क्लास लेते थे।

मैंने उनसे पूछा कई बार कि आप लिखे हैं, लेकिन बतलाते नहीं। मतलब मैं आपका लिखा देखता नहीं हूँ, छपा हुआ। पता नहीं! ये क्या बात थी? इसकी गुत्थी मैं आज तक समझ नहीं पाया कि चौबे जी सन् 56 में ही अपने लेखन से इतने वीतरागी

एक बहुत बड़ी बात थी चौबे जी में। वे अपने लेखक को अपनी कलाई पर नहीं बाँधते थे कभी। कोई नहीं जानता था– जे.पी. चौबे का नाम। खंडवा में शायद माखनलाल चतुर्वेदी जानते रहे होंगे तो जानते रहे होंगे, लेकिन मैंने चौबे जी के मुँह से माखनलाल जी का बहुत ज्यादा जिक्र कभी नहीं सुना। साफ बात है, वे उनके यहाँ जाते ही बहुत कम थे। उनका स्कूल उनका किला था। उन्होंने ये कहा कि तुम्हें जो मन में आये लिखो, लेकिन केवल सावधानी से लिखो। फिर उन्होंने मुझे अपनी दो-तीन कहानियाँ देखने को दीं और शायद एक सुनाई।

क्यों हो गये? एक तो यह बात थी कि खंडवा में वो उस वक्त– क्योंकि मनोहर वर्मा जी भी नहीं आये थे उस वक्त। वे बैठे हैं। वो सब बाद में आये। श्रीकान्त जोशी से न उनका परिचय हुआ, न वो कवि थे। माखनलाल निस्सन्देह कहानी लिखते थे, लेकिन माखन दादा तब तक लिखना बन्द कर चुके थे। उस तरह से एक्टिव नहीं थे। पर खंडवा में– मैं कोई निन्दा नहीं कर रहा हूँ– लेकिन खंडवा ऐसा शहर नहीं था जहाँ एक लिखने वाले को प्रोत्साहन मिलता, उसकी कद्र होती।

चौबे जी जब तक जीवित रहे, उनका कोई भी कहानी संग्रह नहीं आया। जबकि मैं देखता हूँ कि एक से एक चिरकुट उस वक्त छपाते थे कहानी संग्रह और अब भी छपा रहे हैं। आज भी उतना ही कूड़ा लिखा जारहा है, जितना उस वक्त लिखा जा रहा था कहानी के नाम पर, लेकिन ज.प्र. चौबे ने कभी अपनी किताबों को टॉउट नहीं किया, कभी अपने लेखक होने को स्कूल पर इम्पोज नहीं किया। जे.पी. चौबे ने एक भी कहानी नहीं पढ़ी स्कूल में। कोई साहित्यिक आयोजन नहीं किया स्कूल में। लेकिन हाँ, खंडवा स्कूल की उस लाइब्रेरी को, जिसको पढ़कर मैंने बहुत कुछ जाना और सीखा, खासकर मदर, टॉल्स्टॉय, वड्र्सवर्थ की जीवनी, पूरा कृश्नचन्दर, ये सब जे.पी. चौबे खरीदते थे। बेहतरीन लाइब्रेरी थी वो खंडवा की, स्कूल की लाइब्रेरी। मैं दो साल पहले गया था, मैं रो दिया, क्योंकि अब जहाँ लाइब्रेरी है वहाँ पानी टपकता है, थप्पियाँ फर्श पर लगी हुई हैं नायाब किताबों की, जो कि जे.पी. चौबे सरीखे प्रबुद्ध प्रिंसिपल ने खरीदी होंगी और वो इतना मायूस था लाइब्रेरियन, मैंने उसको बतलाया तो भावुक हो गया, बोला– साहब! आपको ये याद है और तो किसी को याद नहीं है। जो बेहतरीन लाइब्रेरी थी, वो सारी बर्बाद हो गयी है। अब वो स्कूल भी बर्बाद हो रहा है इस तरह से। क्या स्कूल था! आदर्श स्कूल था वह! इट वाज कॉल्ड मॉडर्न मल्टीपरपज हाई सेकेण्डरी स्कूल और तभी वह बी.टी. कॉलेज से अटैच किया गया था।

एक उनका किस्सा और है– स्कूल में हमारे एक कैमरा था। बड़ा महँगा कैमरा था। उस जमाने में साढ़े सात सौ रुपये का कैमरा। अब आप कल्पना कीजिये! चूँकि मुझे फोटोग्राफी आती थी तो एक बार मंडलोई साहब आये हमारे स्कूल में और चौबे जी ने कहा– विष्णु! तुमको फोटोग्राफी आती है और कोई कैमरे वाला मिल नहीं रहा है, तो तुम इनका एक फोटो खींच लोगे? मैंने कहा– क्यों नहीं खींच लूँगा, आप रील डलवाइये। उसमें मैंने क्या किया? 4/6 का फोकस लगाया, 1/120 की स्पीड रखी और जब मंडलोई जी आये, चौबे जी खड़े हुए और बटन ऐसे समय पर दबी जबकि चौबे जी तो हाथ नीचा कर चुके थे पर मंडलोई जी नमस्कार कर रहे थे। फिर उनने देखा, बोले– ये फोटो तुमने खींची है? ये क्या कर दिया? इस फोटो को नष्ट कर दो। ये किसी के हाथ में नहीं पड़ना चाहिए। समझे? मैंने कहा– यस, सर।

लेकिन चौबे जी में एक बहुत ही बढ़िया सेंस ऑफ ह्यूमर था। अगर आप उनके अधिकांश विद्यार्थियों से पूछेंगे तो विद्यार्थी कहेंगे कि बहुत स्ट्रिक्ट और बहुत राक्षस लगते थे, क्योंकि एक परिन्दा पर नहीं मार सकता, लेकिन उनकी सेंस ऑफ ह्यूमर, उसको जानने का श्रेय मुझे मिलता हैं, क्योंकि शिक्षकों से मजाक तो करते नहीं थे, थोड़ा बहुत हास-परिहास करते रहे होंगे। मैं समझता हूँ कि मुझसे करते होंगे।

तो मेरे पूरे व्यक्तित्व में एक बात यह कि, तुम्हें लोगों के बीच में एक सन्तुलन बनाकर चलना है, तो मैंने सबसे पहले अपने पिता और चौबे जी वाली घटना चुनी, क्योंकि मुझे जानना है कि पिता कहाँ हैं और शिक्षक कहाँ हैं। मुझे जानना है कि क्या सही है, कितना सही है और क्या गलत है। मुझे जानना है कि लिखना कैसे होता है, उसके लिए क्या किया जाता है। मैंने यह भी जाना कि लिखने के बारे में चर्चा करना कितना बेकार है। आप लिखते हैं, लिखते रहिये। जे.पी. चौबे ने कभी मुझसे नहीं कहा कि इस कहानी के बारे में तुम क्या सोचते हो? यह बतलाओ। कभी नहीं पूछा।

मैं पास हो गया 57 में और मैं कॉलेज चला गया। खंडवा

में और एक दिन जब बहुत अतीव मोह की वजह से नास्टेलेजिया की वजह से जब मैं अपने स्कूल आया तो चुपचाप घूमता रहा स्कूल में, क्लासेज में और फिर मैं अपने स्कूल के हॉल में पहुँचा। बहुत बड़ा हॉल था वह। अब भी बहुत बड़ा हैं तो वहाँ ऑनर्स बोर्ड लगे हुए रहते थे पहले। ऑनर्स बोर्ड में क्या होता है कि विद्यार्थियों की परीक्षाएँ होती हैं, तो मैं गया देखने और देखा कि 1957 में क्या एंट्री है। उसमें एंट्री थी 'शाला का सबसे अच्छा विद्यार्थी विष्णुकान्त खरे।' मैंने उसको दस बार पढ़ा, क्योंकि जे.पी. चौबे ने मुझे कभी नहीं बतलाया कि मैं तुम्हें इस स्कूल का सर्वश्रेष्ठ छात्र मानता हूँ और तुम्हारा नाम मैं ऑनर्स बोर्ड पर लिखवाऊँगा। कभी नहीं कहा। उन्होंने कभी बतलाया ही नहीं और आप यकीन मानिये कि अब वो ऑनर्स बोर्ड नहीं है, लेकिन मैं उस ऑनर्स बोर्ड की तलाश में हूँ। दो साल पहले जब मैं गया, मैंने तफ्तीश की तो मालूम पड़ा कि ऑनर्स बोर्ड जो हैं, वो पीछे जिमनेजियम में रखवा दिये गये हैं और अपनी अगली खंडवा यात्रा में मैं निस्सन्देह उसको निकलवाकर देखूँगा यदि बचा हुआ है तो।

तो जे.पी. चौबे का मेरे जीवन में जो योगदान है, वह उतना केन्द्रीय है। मैं यह बात कहना नहीं चाहता हूँ, पर कह देता हूँ, क्योंकि वे दोनों नहीं हैं। एक तरह से वो मेरे लिए सरोगेट फादर थे। मेर अर्जी पिता थे और मेरे पिता के तबादले के बाद शायद ये और भी गाढ़ा हो गया उनका ये अर्जी पुत्रत्व। उसके बाद मैं कॉलेज चला गया। मिलता रहा उनसे। 1960 में जब मेरी पहली किताब, टी.एस. इलियट का अनुवाद 'द वेस्टलैंड ऐंड अदर पोयम्स' का अनुवाद 'मरुप्रदेश और अन्य कविताएँ' लेकर मैं उनके पास गया। उसका भी किस्सा है, वह उड़ीसा के प्रकाशक ने छापी थी और उन्हें डिस्ट्रीब्यूशन करना आता नहीं था तो उन्होंने मुझसे ये कहा कि भाई! मैं आपको पारिश्रमिक नहीं दे सकता, लेकिन सौ किताबों का पार्सल मैं आपको भेज रहा हूँ, इसको बेचिये और अपना पारिश्रमिक ले लीजिये। किताब का दाम तीन रुपये था उस वक्त, 1960 में। तो दोस्तो! मुझे याद आया अरे चौबे जी! तीन कॉपियाँ कर गया। मैंने कहा– ये आपको लेनी हैं। तो बहुत खुश हुए। किताब को उलटा-पलटा। बोले– तूने तो बहुत अच्छा काम किया। कब किया? मुझे तो बतलाया नहीं? मैंने कहा– हम और आप किसी को बतलाते नहीं हैं। तो क्या बतलाना है, किताब आ गयी है, आपको तीन प्रतियाँ लेनी हैं। बोले– तीन? मैंने कहा– हाँ, लीजिये आप। बोले– मैं ऐसा करता हूँ एक मैं ले लेता हूँ खुद और दो मैं स्कूल में ले जाता हूँ। मैंने कहाँ जो भी कीजिये आप, आपके जिम्मे तीन हैं। तो उन्होंने स्कूल लाइब्रेरी में ले ली। कहीं सड़ रही होंगी वहाँ उस गड्डी में। उस एक किताब का क्या हुआ, जो उन्होंने खरीदी थी, वह भी शायद स्कूल को दे

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

वनमाली समग्र सृजन

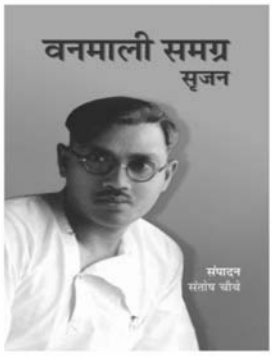

संपादन
संतोष चौबे

मूल्य ₹ 325/-

वनमाली समग्र स्मृति

संपादन
संतोष चौबे

संपादन सहयोग
विनय उपाध्याय

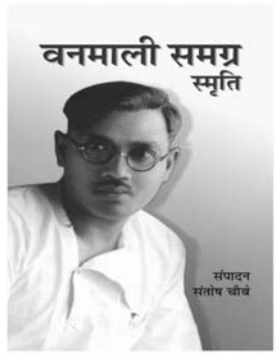

मूल्य ₹ 400/-

दी या कहीं है, संतोष के पास, मैं नहीं जानता। उसके बाद मैं 61 में पास हो गया। उसके बाद मैं चला आया इन्दौर से फिर रतलाम। रतलाम से फिर दिल्ली।

यहाँ मैं थोड़ा भावुक हो सकता हूँ, लेकिन मैं बहुत कोशिश करता हूँ कि मैं न होऊँ। क्यों? क्योंकि मुझे उसका बहुत अफसोस है कि जब वे यहाँ थे मुझे नहीं मालूम था। मुझे पता नहीं था कि वे यहाँ हैं। मैंने इतने कमबख्तों से पूछा कि भई! जे.पी. चौबे कहाँ हैं? एक ने मुझसे इतना बहाना किया, झूठ तक बोला था– जब वो जीवित थे– वो गुजर गये। मैं अपने आपको इतना कोसता हूँ, मैं अपने पर लानत भेजता हूँ कि वो इस शहर में जीवित थे और मैं उस दौरान कई बार आया। मैं यह बात नहीं कर पा रहा था और उसका मैं कसूरवार हूँ, क्योंकि मैं बहुत खोज के चीजें निकाल लेता हूँ, लेकिन वो मरे हुए कंजरों वाला काम किसी ने मेरे साथ किया कि मैं उनको तलाश नहीं पाया और अन्तिम समय में मैं उनके चरण नहीं छू पाया था। चरण छुआने से उन्हें बहुत नफरत थी। वो चरण छुआने के चक्कर में कभी नहीं पड़ते थ। मैंने कभी नहीं देखा– कम से कम मेरी याद में किसी ने उनके चरण छुए हों या उन्होंने उसको टॉलरेट किया हो।

अब मैं इस बात पर आ सकता हूँ, उनके 'कृतित्व' पर, क्योंकि उस वक्त वो किताब छपी नहीं थी उनकी। जो दो कहानियाँ मैंने पढ़ी थीं, उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया था, लेकिन उस वक्त मैं अपनी कहानियों का दीवाना था। सत्रह साल का लड़का, वो क्या परवाह करता है एक ऐसे आदमी की, जो अपने समय से पहले बूढ़ा दिखने लग गया था। उनके सारे बाल सफेद हो गये थे। मेरी तरह बाल रँगते भी नहीं थे और जितने के थे उससे ज्यादा के दिखते थे। तो मैं सोचता रहा कि ठीक है, एक शैली इनकी है, लिखने की एक शैली मेरी है।

वो दिखाते नहीं थे कहानियाँ अपनी किसी को। क्या करता? लेकिन जब संतोष चौबे ने ये काम शुरू किया और उनके संग्रह प्रकाशित किये और उनकी कहानियाँ अभी भी संकलित कर रहे हैं, वो इकट्ठा कर रहे हैं और उनका कलेक्शन 'वनमाली' की 'प्रतिनिधि कहानियाँ' यह मेरे पास तीन-चार साल पहले आ चुका था। निस्संदेह इस आदमी के साथ उसके वक्त ने बहुत अन्याय किया। वनमाली नाम का ये कहानीकार इस तरह विस्मृत होने लायक नहीं था।

लेकिन 'वनमाली' जी को विस्मृत करने में 'वनमाली' जी का भी हाथ है। पर मैं समझता हूँ कि उसके पीछे उनकी ही साइक्लॉजी रही होगी है कि ये जो समाज या पाठक है, जो मेरी इन कहानियों की कद्र नहीं कर रहा है, मैं उसकी कद्र नहीं करता। मुझे कहीं जे.पी. चौबे में एक बहुत गहरा गुस्सा नजर आता है कि तुम इसे नहीं समझते हो तो मैं गुमनाम ही रहूँगा। यह एक ऐसी शर्त है, जो कभी-कभी आर्टिस्ट अपने आप पर आयत करता है। मुझे लगता है कि चौबे जी ने ऐसा किया।

अब मैं उनकी कहानियों की बात करता हूँ। चौबे जी की कहानियों में यदि ऐसा सम्भव है तो तीन ध्रुव देख सकते हैं। एक ध्रुव है प्रेम कहानियों का, एक ध्रुव है पारिवारिक और सामाजिक कहानियों का और तीसरा ध्रुव है व्यंग्य का। और मैं यहाँ आपको बतलाना चाहता हूँ कि 1952 में वनमाली जी ने जो व्यंग्य लिखे हैं, वो बहुत बरस बाद जाकर हरिशंकर परसाई नाम के व्यक्ति ने लिखे हैं। 1952 के मेरे पास चार छोटे-छोटे व्यंग्य हैं और वे इतना भयानक ढंग से प्रासंगिक हैं और वे इतने साहस से भरे हुए हैं कि मुझे आश्चर्य होता है कि इन्हें उस वक्त क्यों नहीं सराहा गया? और ये फिर मेरी थीसिस को मजबूत करता है, क्योंकि थीसिस मेरी यह है कि वनमाली अपने समय से आगे क्यों देखते हैं? वे वो लिख रहे हैं, जो उस समय एप्रिशिएट नहीं किया जा सकता था।

उनके चार व्यंग्य हैं। पहला व्यंग्य– शीर्षक है 'एक रंग।' पहला रंग है शुद्ध कम्युनिस्ट। इसमें एक क्लर्क अपने बॉस से विद्रोह करता है तो उसका बॉस उसे कम्युनिस्ट कहता है। वो कहता है कि– नहीं-नहीं, सर, मैं आपके अधीन कर्मचारी हूँ। इसलिए आपका हुक्म बजाने के लिए मजबूर हूँ लेकिन मैं टैक्सपेयर नहीं हूँ इसलिए मैं अपना अधिकार ये समझता हूँ कि देखूँ जो मैं टैक्स न दे पाऊँ। आप सोचिये! टैक्सपेयर नाम की कल्पना किसी भकुये हिन्दी साहित्यकार के दिमाग में नहीं थी कि टैक्सपेयर क्या होता है?

डी.सी.एस. आग बबूला हो गये– डैम! तुम कम्युनिस्ट हो? हम तुम्हारी रिपोर्ट देगा।

दूसरा है– 'रामलीला मैनेजर।' उसमें एक मिनिस्टर आता है और एक बहुत बड़ा नाटक किया जाता है। नाटक ये है– मुझे जिस रास्ते से मन्त्री साहब को ले जाना था, उस पर मैंने एक से एक बड़े गेट खड़े करवा दिये। जब वो मन्त्री जी को उनके अन्दर से ले जाने लगा तो वे कुछ चकित-से, कुछ खुश थे। उल्लास-भरी आँखों से मुझे ताकते रहे। इस तरह हम छह दरवाजे पार कर गये और सातवें पर पहुँचे तब मन्त्री जी अपनी खुशी न थाम सके। पूछ बैठे, क्यों वर्मा साहब! और कितने दरवाजों की मुझे सैर करायेंगे? मैंने यूँ ही जरा मुस्कराकर जवाब दिया– कुछ नहीं, कुछ नहीं। आपकी खैरियत क्या हुई? तब ये पहले के इन्तजाम के मुताबिक बन्दूक की आवाज हुई और

TAGORE INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL
विश्व रंग
BHOPAL (INDIA)

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

वनमाली सीरीज़

के अन्तर्गत प्रकाशित

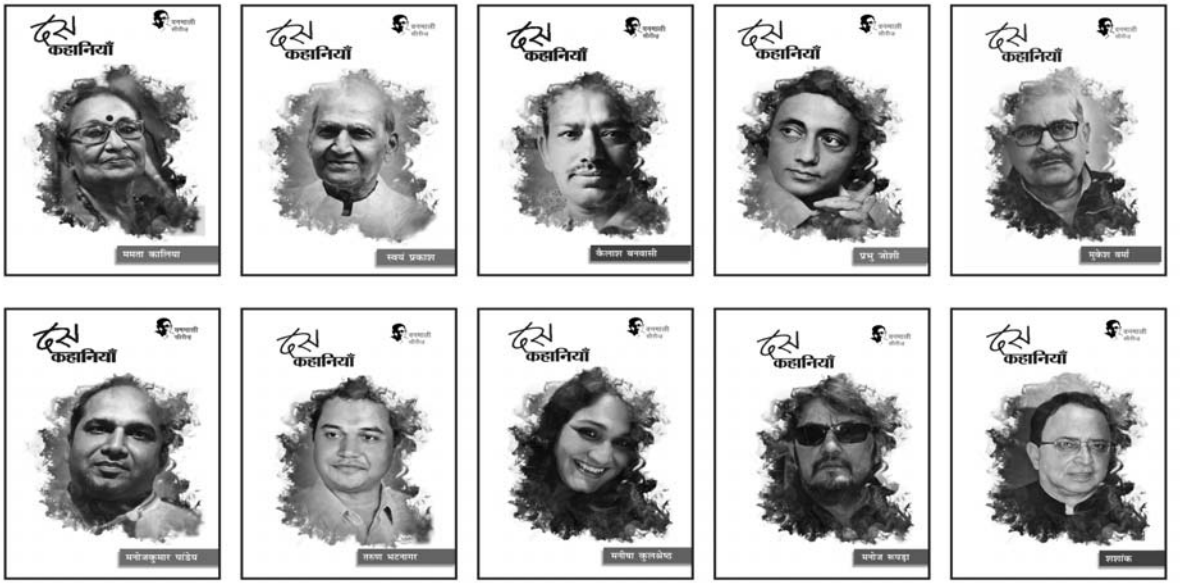

दस कहानियाँ : ममता कालिया, तरुण भटनागर, मनोजकुमार पांडेय, स्वयं प्रकाश, मुकेश वर्मा, कैलाश बनवासी, शशांक, मनीषा कुलश्रेष्ठ, मनोज रूपड़ा, प्रभु जोशी

इसी क्रम में शीघ्र प्रकाश्य

दस कहानियाँ : असगर वजाहत, चित्रा मुद्गल, प्रियंवद, आनन्द हर्षुल, भगवानदास मोरवाल, पंकज मित्र, अल्पना मिश्र, गीतांजलिश्री, हरि भटनागर, चन्दन पांडेय, देवेन्द्र मेवाड़ी

ई-7/22, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 मध्यप्रदेश

मूल्य : 150 रु. प्रत्येक

amazon.in पर उपलब्ध

तड़ से ऊपर से एक मोटा-सा हार मन्त्री जी के ठीक गले में आ पड़ा। मन्त्री जी बाँछें खिल गयीं। वाह! क्या खूब। दूसरा व्यंग्य है।

तीसरा व्यंग्य– 'स्वराज्य।' यह पूरा रघुवीर सहाय की कविता है। अगर मैं इसको पूरा पढ़ूँ तो एक दिन शाला में शिक्षकों ने हम्मालों को स्वराजय का अर्थ बतलाया, भाइयो! अँग्रेज चले गये हैं, पर अब तुम स्वयं अपने भाग्य निर्माता हो। राष्ट्र तुम्हारा है, तुम असल नेता हो और नेता तुम्हारी ओर से राजकाज चलाने वाले। तुम सब मिलकर कहो, हम राजा हैं। हाँ, प्रधानमन्त्री होने का हक हमारा है। रघुवीर सहाय सत्रह-अठारह वर्ष बाद। तब हम्माल मिलकर एक स्वर में चिल्लाये– हम राजा हैं। सारा दालान हिल चुका, हम राजा हैं। मैं भी हिल गया। मौजूद था। मैंने सोचा शिक्षक को समझाऊँ कि अरे भाई! तुम सीधे-सादे लोगों से ऐसा मजाक क्यों करता है? ये बेबुद्धि के प्राणी तेरे स्वराज्य की भाषा क्या समझेंगे? इतने में हम्मालों का सरदार यह सुनकर सीधा खड़ा हो गया, कहा– गुरुजी! हम राजा नहीं हैं। क्यों तुम राजा नहीं हो? गुरुजी! हम तो धन-कुट्टी के मालिक नानामल के गधे हैं, जो जैसा चाहे हमसे काम लेता है।

अब ये 1952 के तेवर देखिये! और आखिर में आखिरी व्यंग्य है– 'जनता की सरकार।' एक तिनका सड़क के किनारे पड़ा हुआ दो आदमियों की बातचीत सुन रहा था। उनमें से एक रोज का साथी जूते गाँठने वाला एक था और दूसरा राहगीर, जो अपने फटे जूते निकालकर उससे पूछ रहा है कि उनकी मरम्मत करने का क्या लोगे? वह बोला– छह आना, बाबू साहब। राहगीर बोला– दो आने दूँगा। बाबू साहब! आप कैसा अँधेर कर रहे हैं। देखते नहीं, महँगाई कैसी हो रही है? राहगीर बोला– जबान सँभाल कर बात करो जी, कि तुम्हारे अकेले के लिए ही महँगाई आई है? दो आने में सियो तो सियो, नहीं तो तुम्हारी मर्जी। उसने डाँट खाकर कहा– अच्छा, बाबू साहब! मैं करता हूँ। अब राहगीर जूतों की मरम्मत करवाकर चला गया तब तिनके ने उससे पूछा कि भाई! तेरी मर्जी थी क्या? मजबूरी यह कि क्या तिनका आदमी था, जो उसकी बात वह समझता और तिनके को क्या मालूम कि आदमी ने जनता की सरकार नामक संस्था कायम की है, उसकी जुबान में मजबूरी के माने होते हैं मर्जी।

ये तो खैर 'वनमाली' जी के व्यंग्य का एक पहलू है। व्यंग्य तो बार-बार आता है। उन्होंने क्या किया है कि इस व्यंग्य को अपने आत्मविश्लेषण का औजार बनाया है और उनकी कहानी दर कहानी में नायक अपनी परतें छीलता जाता है, छीलता जाता है।

निवेदन मेरा यह है कि 'वनमाली' को आप उनके समय में स्थित करना चाहते हैं तो मैं कहूँगा कि वनमाली में तीन चीजें थीं। एक प्रेमचन्द तो थे ही। निस्सन्देह वे प्रेमचन्द स्कूल के कहानीकार थे। दूसरे वो जैनेन्द्र स्कूल के कहानीकार हैं, क्योंकि पति-पत्नी के सम्बन्ध पर या प्रेमिका पर, या प्रेम पर, प्रेम-प्रसंग पर, प्रेम की असफलता पर इतनी कहानियाँ उनके पास हैं। और तीसरी कहानियाँ व्यंग्य की हैं।

एक अजीब बात यह है कि 'वनमाली' जी एक कहानी से सन्तुष्ट नहीं होते थे। उनकी कुछ कहानियों में तीन-तीन राग छुपे हुए मौजूद हैं, पर लगातार कोई नुक्ता आता है इनमें। समाज के तो वे इतने गहरे आलोचक हैं, उनके कई पात्र– बहुत गरीब लड़कियाँ, काम करने वाले मोची, ढीमर, रिक्शे वाले– ये लोग हैं– मास्टर हैं, क्लर्क हैं, फिर कुछ अफसर हैं। लेकिन कुल मिलाकर के वनमाली जी की भाषा जो है, वो अब भी इस काबिल है कि उससे कुछ सीखा जाये। जैसे प्रेमचन्द की भाषा से हम अब भी सीख सकते हैं या जैनेन्द्र की भाषा से अब भी सीख सकते हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि वनमाली जी के स्टेप, यू नो! पैरा-दर-पैरा हैं, जिनमें आज भी एक शब्द का अन्तर-फर्क नहीं कर सकते। पर अब भी वैलिड हैं।

एक विचित्र बात यह है कि उन्होंने कुछ निबन्ध लिखे हैं। 'कला का आदर्श' नाम का एक निबन्ध है। यदि आप उसे पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि वनमाली जी घनघोर कलावादी थे। निबन्ध में कलावादी हैं निस्सन्देह। लेकिन जब वो कहानियाँ लिखते हैं तो उनके समान प्रतिबद्ध कहानीकार बहुत कम हैं और यह देखकर मुझे आश्चर्य होता है कि ये कहानीकार प्रगतिशीलों द्वारा इस कदर अलग से क्यों कर दिया गया है? जहाँ तक उनकी 'प्रेम कहानी' का सवाल है, एक बहुत बड़ी बात जो 'वनमाली' करते हैं, वह यह कि हमेशा प्रेम की समस्याओं में जाति और वर्ग की समस्या रखते हैं। हमारी प्रेम कहानी में जब भी क्लैश होगा प्रेमी-प्रेमिका में, वर्ग को लेकर होगा या जाति को लेकर होगा।

और मैं अब यह मानता हूँ कि चौबे जी के बहुत बड़े ऋण से थोड़ा-बहुत मैं मुक्त हुआ हूँ, क्योंकि निस्सन्देह मैं उन पर कुछ और लम्बा लिखना चाहूँगा। लेकिन वह तभी बेहतर होगा जबकि उनकी सारी कहानियाँ और सारी राइटिंग्स सामने आ जायें। और मैं आपको सलाह दूँ कि कृपया उन्हें पढ़िये। उन्हें पढ़कर आप मध्यप्रदेश के एक बहुत निग्लेक्टेड कथाकार को जान पायेंगे।

❑

सन्तरे वाली

जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली'

चन्दा को लोग सन्तरे वाली के ही नाम से जानते हैं, पर वह सिर्फ सन्तरे नहीं बेचती, उसकी डलिया में अमरूद भी होते हैं, केले व सेब भी रहते हैं और कभी-कभी वह आम और अंगूर भी ले आती है।

चन्दा घर में अकेली औरत है। माँ-बाप थे कभी, सो ना जाने कब कूच कर गये। वह अपने स्वामी को भी खो चुकी थी। अब सब खोकर चन्दा केवल अपने रूप को ही लुक्का-चोरी से समेट कर अपना बना सकी है। सो चन्दा उसकी कदर जानती है और इसी से वह उसे बड़े सँवारकर व निखारकर रहती है।

चन्दा में गर्व है, इसी से उसमें हिंसा है। माया-मोह का नाता तोड़कर अब उसने संसार से हिंसा का नाता जोड़ा है। चन्दा इसलिए संसार को कोरा सहती नहीं, वह उसे पूरे बल से अपनी ओर खींचकर कलपाना चाहती है। इतवार के दिन जब चन्दा कालेजों के होस्टलों में फल पहुँचाने जाती है, तब वह अपनी चुहल में हृद की आग भर उसे बिछुड़े हुओं के हृदय में पहुँचा देती है और उन्हें सुलगा देती है।

पर जहाँ चन्दा जलाती, वहाँ जलन भी जानती है। इसी से कड़ी है। कालेज के लड़के उसे देख अपना सब भूल जाते हैं और चन्दा भी उनसे खूब हँसती-खेलती है, खूब कस-कसकर मोल-भाव करती है। किन्तु मजाल क्या कि चन्दा से कोई फोहश बात कह दे। सभी जैसे चन्दा को अपना मानकर भी अपने से दूर मानते हैं। जहाँ चन्दा इन भटके हुओं को हँसाकर-रुलाकर सुख पाती है, वहीं वह घर आ खोयी-सी, फटी चटाई पर बड़ी रात तक अपने टूटे छप्पर के सुराखों से ऊपर जलते हुए आसमान को देखा करती है और बिसूरा करती है।

इस बार चन्दा के रूप के लोभी लड़के उसकी याद करते, गरमी की छुट्टियों के बाद अपने घरों से यहाँ आये हैं, तब उनके समूह में एक नया लड़का आकर समा गया है। वह है अबनि कुमार या अबनि। अबनि स्वभाव का इतना भोला व सरल है कि जब छुट्टी के दिन चन्दा होस्टल में फल बेचने आती है, तब वह और लड़कों के साथ छेड़खानी में नहीं शरीक होता। लड़के उसकी यह कमजोरी देख हँसते हैं और उस पर ताने बरसाते हैं, पर उसे अपने में समेट नहीं पाते।

अबकी बार जब चन्दा फल बेचने आयी, तब अबनि भी सेब खरीदने की गरज से बाहर निकल आया। उसे आता देख लड़कों ने ताने कसे। किसी ने पानी बरसाया और किसी ने अबनि के पास जाकर उसे अपनी कमजोरी पर विजय प्राप्त कर लेने पर बधाई दे डाली। चन्दा इन सब बातों का कुछ अर्थ न लगा सकी। वह सिर्फ अपने सामने एक सरल सुख को सिमटते देख सकी और समझ सकी कि आज कोई नया अपरिचित उसके रूप का लोभी विद्यार्थी यहाँ आकर फँस गया है। इसलिए उसकी इतनी पूजा है।

अबनि किसी की कुछ परवाह न कर सीधा चन्दा के सामने जा खड़ा हुआ और बोला, ''मुझे सेब चाहिए। सेब कैसे दिये?''

चन्दा ने अपनी मद-भरी आँखों से एक झकोला दिया और डलिया में से सेब उठाते हुए उसके ऊपर का गुलाबी कागज उतारते हुए कहा, ''बाबूजी, यह कश्मीरी सेब है। दो आने का एक दिया है।''

चन्दा के इसी लहजे पर लड़के लोटपोट हो जाते, पर अबनि तो जरा नहीं उकसा। उसने उससे कोई भाव-ताव नहीं किया और चट कह दिया, ''अच्छा मुझे दो सेब दे दो।''

और वह चवन्नी फेंक चलता हुआ।

अब यह बात कुछ अच्छी नहीं हुई। चन्दा जो यहाँ आती है, पैसे कमाने नहीं आती। वह तो लड़कों से लड़ने-झगड़ने आती है। वह चुहल करती है और चाहती है कि दूसरे भी उससे चुहल करें। इन लड़कों को अपनी करारी चितवन से उभारकर वह जो कुछ पाती है, वह उसकी सच्ची कमाई होती है। वह इनसे अलग रहकर भी इन पर सत्ता चाहती है।

पर यह हार कैसी?

चन्दा के जीवन में आज एक सन्धि-क्षण आकर उपस्थित हुआ, जब वह जान पायी कि उसके रूप-यौवन के अभेद्य दुर्ग को भेद कर कोई भीतर घुस आया है और उसे खंड-खंड कर गया है। चन्दा आज टूट चुकी है।

चन्दा उस दिन से बिखरी-बिखरी हो रही है। वह अपने को बटोरकर समेट लेना चाहती है, पर समेट लेने की शक्ति जैसे उसने एकदम खो दी है। वह टूक-टूक चन्दा को जोड़कर फिर अखंड चन्दा बन जाना चाहती है, किन्तु उसमें जैसे सामर्थ्य नहीं, साहस नहीं, त्याग नहीं। बन्धन की गाँठ खोल दी गयी और चन्दा खुलकर फैल गयी है। वह अब नहीं बटोरी जा सकती।

चन्दा जब ऐसी छलना में फँसी हुई है, तब एक दिन सड़क पर फल बेचते भेंट हो गयी उसकी अबनि से। चन्दा धीरे से बोली, ''कहाँ चले बाबू साब?''

अबनि सिर नीचा किये चला जा रहा था। एकाएक आवाज सुन उसने अपना सिर उठाया, तो देखा उस दिन की सन्तरे वाली को। वह बड़ी आफत में फँसा। इस बीच खड़े होकर किसी स्त्री से बातचीत करना उसे भद्दा जँचा। तब उसने छूटने की गरज से कहा, ''क्यों, क्या-क्या फल हैं? मुझे तो अंगूर और सेब चाहिए।''

चन्दा को अबनि की परेशानी पर हँसी-सी छूटी।

वह मीठे स्वर में बोली, ''क्या बाबू साब, कहीं दूर-दूर से खड़े होकर सौदे की बातें पूछी जाती हैं? जरा पास आइये, माल देखिये और तब सौदा कीजिए। आप कालेज वालों को तो नेक शऊर नहीं होता।''

अबनि को इस युवती नारी की बात में कुछ स्वाद-सा आया। वह उसकी अवहेलना न कर सका। वह कुछ पास खिसक आया। तब चन्दा ने बताया, ''यह देखिए बाबू साब, रस के भरे बद्दीदार सन्तरे हैं। ये ताजे काश्मीरी सेब हैं और ये चमन के अंगूर हैं। जो चीज मन पड़े, ले जाइये। विश्वास न हो तो थोड़ी सब चीज चख लीजिये।'' और वह झटपट एक सन्तरे को खोलकर उसकी फाँकें अबनि को देने लगी।

अबनि को उसके खरेपन पर थोड़ा प्रेम-सा उपजा। वह बोला, ''मुझे तुम्हारा विश्वास है। तुम झटपट दो सन्तरे, एक सेब और पाव-भर अंगूर बाँध दो।''

चन्दा ने कहा, ''सब चीजें बाँध दीं।''

अबनि ने पूछा, ''दाम कितने हुए?''

चन्दा ने बताया, ''आठ आने।''

अबनि पैसे निकाल कर देने लगा।

चन्दा तब ठुड्डी पर हाथ रखकर हँसने लगी। बोली, ''वाह बाबू साब, बाजार में चीजें इस तरह खरीदी जाती हैं? जो दाम माँगे सो उठाकर दे दिये। पैसे की आप लोगों को जरा कसक नहीं होती। मेरे तो कुल पाँच आने हुए।''

अबनि रोज की भाँति आज भी चन्दा को नहीं समझ सका, पर और दिन की भाँति उसकी आज चन्दा को बुरा समझने की हिम्मत नहीं हुई। आज उसने चन्दा में जो सरलता, सहृदयता और नारीपन देखा, उससे वह सहज में मोहित हो गया। तब उसने चन्दा को बताया कि वह बहुत जल्दी ही होस्टल छोड़कर कहीं बाहर मकान लेने की सोच रहा है। होस्टल में उसे खाना अच्छा नहीं मिलता और भोजन बनाने के लिए वह घर से कोई आदमी बुला लेगा। इसलिए वह आज मकान की तलाश में निकला था, पर कोई अच्छा मकान उसे नहीं मिल सका।

चन्दा चुपचाप अबनि की बातें सुनती रही और तब बोली, ''बाबू साब, मेरी निगाह में एक मकान है। दो दिन बाद इतवार है। यदि आप आवें तो मकान दिखा दूँ।''

आज जब अबनि इतवार को आने की कह होस्टल की तरफ चला, तो वह रास्ते-भर इस अपरिचित, सहृदय, चुहल से भरी नारी की बात सोचता रहा और जब वह होस्टल पहुँचा तब उसे मालूम हुआ कि उसकी तबियत अलील है। उससे आज कुछ पढ़ाई नहीं हो सकेगी। वह तब थोड़ा-सा अन्न पेट में डाल कर पलंग पर लेट गया।

अबनि की इतवार को घर देखने आने की बात ने चन्दा के जीवन की धारा को एकाएक, एकदम बदल दिया। चन्दा कभी कड़ी थी, इसलिए आज इतनी सरल है। कड़ाई को दबाकर जैसे सरलता ऊपर आई है। उसमें क्रोध नहीं, हिंसा की ज्वाला नहीं, पाप का परिताप नहीं और वह बोझिल हो पैर की बेड़ी नहीं। वह तो फूल की सुगन्ध की भाँति सब ओर व्याप्त है। चन्दा जानती है कि एक बार उसकी अवहेलना हो चुकी है। वह कड़ी होकर एक बार अपने स्तुत्य को खो चुकी है। इसी से इस बार वह ज्वाला लेकर नहीं आई है। वह तो सेवा-भाव से सहज में पा गये इस सरल से खोटे अबनि को लूट लेना चाहती है।

इसी बीच आ गया इतवार।

अबनि देर करके आया।

चन्दा ने ताना मारते हुए कहा, ''वायदे के तो आप पूरे हैं, बाबू साब। अब मैं भी कह दूँ कि आज मुझे फुरसत नहीं, आप कल आइये तो?''

अबनि ने जवाब दिया, ''तो लो चला जाता हूँ। कल आऊँगा।''

चन्दा क्षण-भर अबनि का मुँह जोहती रही। यह अबनि भी चुहल करना सीख गया, पर अब चन्दा दोष नहीं देखेगी। वह तो अब अबनि की पूजा करेगी। अपने हृदय में बन्द किये हुए देवता को भोग लगायेगी।

वह बोली, ''आप भूल कर सकते हैं, पर मैं कैसे भूल करूँगी? आज आप मेरे मेहमान हैं। आप यों ही सूखे थोड़े ही लौटने पायेंगे।'' और चन्दा ने अबनि के सामने कुछ सन्तरे की फाँवें, एक सेब व थोड़े अंगूर रख दिये।

अबनि ने टालना चाहा। बताया कि उसे भूख नहीं। वह होस्टल से खाकर चला है और उसे जल्दी है।

किन्तु चन्दा कब उसे जल्दी छोड़ने लगी। उसने मुस्कराकर कहा, ''वह तो मैं भी देख रही हूँ कि आपको जल्दी है। यदि सचमुच जल्दी है तो आप खा क्यों नहीं लेते? अपनी देर के लिए आप नाहक मुझे दोष मत दीजिए।''

अबनि ने आखिर झटपट सन्तरे की फाँक मुँह में भर ली और दो-चार अंगूर मुँह में डाल लिये। तब बोला, ''लो, अब चलो।''

चन्दा अबनि को मकान दिखाने ले गयी।

अबनि को मकान पसन्द आया। वह जल्दी ही वहाँ उठ आने की कहकर चला आया। पर उसने अपने को एक पहेली में उलझा पाया। यह चन्दा, जो इतना अपनापन दिखलाती है, सो उसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन नहीं है, तभी तो उसको लज्जा नहीं है, तभी तो वह भटकती नहीं है। अबनि अपने हृदय के विकार से उसका मिलान कर अपने को खींचना चाहता है, अपने को छिपाना चाहता है। इसी से वह छोह करता है। वह देखता है कि वह प्रबल वेग से चन्दा की ओर आकृष्ट हो रहा है। इस कारण वह समझता है कि चन्दा भी उसी वेग से उसकी ओर बढ़ी चली आ रही है। पर इन दो शक्तियों के महाघर्षण का क्या फल होगा, अबनि यह समझ नहीं पाता। भोले अबनि का यह बन्धन है, इसलिए इसमें छलक नहीं है, प्रवाह नहीं है, उन्माद नहीं है, सुप्त हृदय की मीठी व्यथा है।

रात-भर अबनि सोया नहीं। वह इन्हीं विचारों से अपने को लपेटे रहा और सबेरा होने पर होस्टल छोड़कर अपने नये मकान में उठ आया।

तब से अब और अब से तब यह चन्दा और अबनि की कहानी एक बड़ा परिवर्तन लाँघ आगे बढ़ गयी है। जहाँ चन्दा अबनि को

अबनि रोज की भाँति आज भी चन्दा को नहीं समझ सका, पर और दिन की भाँति उसकी आज चन्दा को बुरा समझने की हिम्मत नहीं हुई। आज उसने चन्दा में जो सरलता, सहृदयता और नारीपन देखा, उससे वह सहज में मोहित हो गया।

पाकर दूर हो गयी है और स्थिर बन गयी है, वहाँ अबनि चन्दा को खोकर पास आ गया है और अस्थिर हो उठा है।

यह सन्तरे वाली का जो खंड-खंड रूप चन्दा है, सो अबनि को पाकर फिर समाविष्ट का रूप धारण करने लगा। चन्दा के लिए अब इस समस्त संसार में जैसे कहीं कोई रन्ध नहीं, कहीं भी कोई अभाव नहीं। उसके लिए सभी कुछ भावपूर्ण हो एक सरल भाव से जागृत हो उठा है। चन्दा आज रोती नहीं, हँसकर आज जलाती नहीं। वह तो अब सबकुछ सह-झेलकर दुनिया पार करना चाहती है और जीने का मजा लूटना चाहती है।

और यह अबनि यहाँ आकर खाने को तो ठीक-ठाक पाता है, क्योंकि घर से एक आदमी आ गया है, जो समय-समय पर मनचाही वस्तु बनाकर देता है, पर वह यहाँ आकर दूसरी ही बीमारी में गिरफ्तार हो गया है। एक दिन उसकी जो मीठी-मीठी व्यथा थी, वह अब खूब कड़वी हो उठी है। अबनि जानता है कि चन्दा ने उसे कहीं से आकर लूट लिया है, मगर इसके लिए वह उसे दोष नहीं दे पाता। वह इसके लिए अपने आपको ही दोषी पाता है और दोषी ठहराकर भी वह बदले में जैसे कोई बहुमूल्य वस्तु पाने का अनुभव करता है।

इसी बीच एक दिन चन्दा चली आयी। पूछने लगी, ''कहिये बाबू साब, मजे में तो हैं? किसी बात की तकलीफ तो नहीं?''

अबनि अपने नित के हर्ष-विषाद से, प्राणों के हाहाकार और तुमुल संग्राम के बीच से गुजर रहा था। एकाएक उसका हृदय चन्दा की आवाज सुन धड़कन से भर गया। हृद के सब तार उसके गले में आकर अटक गये और उसके मुँह से कोई बात न निकली।

चन्दा ने पूछा, ''मेरे आने से आपकी पढ़ाई में हर्ज पड़ा क्या?''

अबकी बार अबनि का मुँह खुला, ''सो बात नहीं।''

चन्दा ने प्रश्न किया, ''तो क्या बात है?''

अबनि साहस खोने लगा। बोला, ''कोई बात तो नहीं। यही पढ़ाई-लिखाई की चिन्ता मन को खा रही थी।''

चन्दा अबनि के चेहरे से पढ़ सकी कि उससे कोई बात छिपाई जा रही है। उसने चुटकी ली, ''तो न बताइये। और मेरा हक ही क्या, जो मैं आपकी सब बातें जानूँ!''

अबनि को शायद यह बात लगी। उसने इस बार अपना सब कुछ खोकर कह दिया, ''चन्दा, सच पूछो, तो मैं तुम्हारी ही बात सोच रहा था।''

चन्दा एक बार लाल हो उठी। बोली, ''मेरी बात! छि: बाबू साब, आप भी किस गलीज औरत की बात को लेकर माथापच्ची कर रहे थे। आप पढ़े-लिखे आदमी हैं। अपनी पढ़ाई करिये और मौज से रहिये।''

जब चन्दा अबनि के कमरे में खड़ी हो, उसे उपदेश देकर झोपड़े में चली आयी, तब वह एकाएक फफक-फफक कर रो उठी। आज उसका रूप हृदय के सब तारों को दबाकर गर्वीले स्वर में वही पुरातन का गीत गाने लगा। आज उसके हृद ने अपने आकर्षण के लिए प्रयोजन ढूँढ़ लिया। आज चन्दा के जीवन में फिर एक सन्धि क्षण आकर उपस्थित हुआ, जब उसने देखा कि यह अबनि एक शुभ मुहूर्त की भाँति उसके जीवन में आ जड़ित हो रहा है और अबनि किसी के लिए नहीं है, उस पर और किसी दूसरे का अधिकार नहीं है। उसे तो भगवान ने पूर्णत: उसी के लिए उसके पास भेजा है। यह सोच चन्दा विकट रूप हँसी।

तभी आया अबनि।

अबनि चन्दा से बोला, ''चन्दा मुझे माफ करना। मुझसे अपराध हुआ है। मैं तुम्हें नहीं समझ सका।''

चन्दा समझ गयी कि अबनि आज भी उसे नहीं समझ सका, पर वह उसे यह न बता सकी। वह अपने उस प्रथम मिलन के अबनि के सरल मुख की सोच काँप उठी। आज भी अबनि ने देवता के समान ही उसके जीवन में प्रविष्ट होकर उसे खींच लिया। चन्दा धोखा न दे सकी।

चन्दा ने कहा, ''नहीं बाबू साब, मैं ओछी जाति की औरत ठहरी। एक आध ऐसी-वैसी बात आपके मुँह से निकल गयी तो उसका क्या सोचना? आप अपने को इस तरह छोटा न बनाइये।''

और, जब अबनि चन्दा के उत्तर से सन्तुष्ट होकर खुशी-खुशी घर लौट आया, तब उसी रात को चन्दा अपने घर में ताला-कुंडी लगा न जाने कहाँ चली गयी। **(1936)**

❑

कालजयी

इतना लिख लेने के बाद, आज भी पापा को लगता है कि अभी, उन्होंने अपनी असल किताब नहीं लिखी है। कि, उसे लिखा जाना अभी बाकी है। यही मनाती हूँ कि जब भी सुबह मेरी नींद खुले, मैं उन्हें अपनी मेज पर पहाड़-सी बैठक जमाये, बुक ऑफ हिज लाइफ लिखने में रमा हुआ पाऊँ।

रमेशचन्द्र शाह

पहाड़-सी बैठक

शम्पा शाह

कोई छह दिन पहले की सुबह–

मुँहअँधेरे ही नींद खुल गयी। अभी तो पक्षी तक नहीं उठे। उठ कर झाँकती हूँ उनके कमरे में। टेबल लैम्प की रोशनी में, अपनी मेज-कुर्सी पर बैठे हुए वे कागजों पर झुके हुए दिखते हैं। किसी सही शब्द के इन्तजार में ठिठके हुए। कलम पकड़े उँगलियाँ बीच हवा में रुकी हुई हैं। चेहरा दायीं ओर हल्का-सा मुड़ा हुआ। आँखें कमरे से मीलों दूर के किसी दृश्य में अटकी हुईं... इन दिनों वे अपनी आत्मकथा पर काम कर रहे हैं।

कोई छह बरस पहले की एक सुबह–

गवर्नर हाउस में रात की ड्यूटी पर तैनात सिपाही घंटे बजा रहा है- एक-दो-तीन-चार-पाँच ...आखिरी घंटे की गूँज देर तक सुनायी देती रहती है। नीचे जाने से पहले झाँकती हूँ, उनके

कमरे में। वे बिना लाइट जलाये, फर्श पर दरी बिछा कर बैठे हैं। बाहर से आती स्ट्रीट लाइट की रोशनी में पैर और हाथ आगे को फैलाये, वे कलाइयाँ घुमाते, व्यायाम करते दिखते हैं। उनकी मच्छरदानी-चादर तह कर के पहले ही समेटी जा चुकी हैं। मेरी नींद न खुले, सोच कर उन्होंने बत्ती नहीं जलायी होगी।

कोई इक्कीस बरस पहले की एक सुबह–

ऐक्सिडेंट से मेरी कमर में चोट आई है। एक माह सीधे बिस्तर पर लेटे रहना है। सीढ़ियों पर ठिठके खड़े वे मुझे देख रहे हैं– मेरे स्वस्थ हो जाने की कामना और मन की बेढब आशंकाओं से घिरे। अभी तो चार के घंटे भी नहीं बजे। वे भरसक बिन आवाज किये अपनी चाय बना रहे हैं। अदरक रात से ही कूट कर रख ली थी उन्होंने...

कोई चालीस साल पहले की एक सुबह–

छोटी बहन कक्कू को परे सरका, करवट बदलती हूँ तो अधमुँदी आँखों में, कमरे के कोने में बैठी उनकी आकृति उभरती है, जो ताबड़तोड़ लिखे जा रही है। होंठ कुछ बुदबुदाते, खुले के खुले रह गये हैं। माथे पर बल। लगता है उनके किसी उपन्यास के किरदार 'बीच बहस में' अटके हैं। लैम्प पर माँ की तह की हुई साड़ी डली है ताकि, रोशनी कमरे के दूसरे बाशिन्दों की नींद में खलल न डाले। कमरे में मेरे और बहन के अलावा इन दिनों आमाजी यानी दादी का भी बिस्तरा है। इस सबके बीच और इस सबसे दूर– उनका तीसरा उपन्यास अपनी गढ़न ले रहा है।

साल दर साल दर साल– सुबह का यह दृश्य मेरे जीवन का अचल सवार-सा बना हुआ है आज तक।

वर्षों तक तो मैं रात में जब सोने जाती, पापा अपनी मेज पर डटे होते और सुबह उठती तब भी उन्हें वहीं जुटा हुआ पाती– पृथ्वी की तरह अपनी धुरि पर अटल।

सूरज की तरह, सुबह पूर्वी आकाश में अटल।

रात को सुबह से मिलाती उनकी पहाड़-सी अविचल बैठक।

उनकी उँगलियों के बीच फँसी कलम की नोक से उतरती जाती, भागती उनकी लेखनी– सैकड़ों सफेद पृष्ठों की घाटियों में फैलती जाती है– अनवरत।

उनके यूँ सतत काम में जुटे होने से ही जैसे, इस दुनिया की खैर है...

याद करने की कोशिश कर रही हूँ कि मेरे मन में उनकी पहली छवि क्या है? जो चित्र स्मृति के कुहासे से उभरता है, वह मेरे उनकी गोद में होने और दुनिया को बहुत ऊपर जैसे किसी टेकरी से देखने की सुखद अनुभूति का है।

सीधी नामक एक छोटे-से कस्बे की वीरान, अँधेरी सड़कों पर शाम की लम्बी सैर से लौटते माँ-पापा और पापा की गोद में मैं। वे आपस में बातें करते हुए। एक-दूसरे को कविताएँ सुनाते। दोनों की ही स्मृति में ढेर सारी कंठस्थ कविताएँ।

अँधेरे में जल-बुझ करते असंख्य जुगनू, जिन्हें तब मैं तारे ही जानती थी। बीच-बीच में सियार और लोमड़ी की हूक मुझे डराती लेकिन, यह भाव भी बना रहता कि मैं तो गोद में, ऊपर हूँ! मुझे कुछ नहीं हो सकता!

माँ और पापा तो कविताओं में ऐसे मगन रहते कि शायद उन्हें ये आवाज सुनाई ही नहीं देती थी। यह जो 'मुझे कुछ नहीं हो सकता' की आश्वस्ति तब थी, जब मैं दो बरस की थी, वह आज तक मेरे साथ अक्षुण्ण बनी हुई है।

अनुभूति के स्तर पर, पापा मेरी वह पहाड़ टेकरी हैं, जो तमाम व्याधियों से मुझे ऊपर उठा लेगी, बचा लेगी।

उसी उम्र की, एक स्मृति किसी कार्यक्रम में पापा के माईक के आगे खड़े होने की है। हॉल भरा है, वे मुझे नहीं, तमाम लोगों से बात कर रहे हैं। और यह मेरे लिए असहनीय है। मैं दो या तीन बरस की रही हूँगी। मैंने गला फाड़ कर रोना शुरू कर दिया है, इस कदर कि माँ मुझे हॉल से बाहर ले जाने में असमर्थ हैं। आखिरकार पापा मंच से उतर कर आते हैं, मुझे गोद में उठा कर चुप कराते हैं, और तब माँ मुझे किसी उपाय से बाहर लेकर जाती हैं। इस घटना में रोतल, जिद्दी बच्ची की तरह सबके बीच देखे जाने की अप्रिय स्थिति का कुछ भान मुझे यकीन मानिये तब भी था, पर पिता का इस तरह मुझसे बेखबर हो, दूसरों से बातें करना बिल्कुल असह्य था!

एक अन्य शुरुआती छवि, पापा के साथ गेंद-बल्ला खेलने की है। गेंद पापा खुद ही बनाते थे– कपड़े की। कपड़े को गोल लपेट कर उसे वे इतना कस कर सीते थे, कि वह टप्पा खा कर सचमुच गेंद की तरह उछाल भी लेती थी।

स्टम्प और बल्ले के रूप में तब जानते हैं किस चीज का प्रयोग होता? दोनो ही 'कहानी' या 'कल्पना' नामक पत्रिका के होते थे! उनके साथ रोज यह खेल घंटे-भर तो चलता ही था। इस मोहलत में शायद माँ खाना बनाने का काम कर पाती होंगी।

यह गेंद-बल्ले का खेल और शाम की लम्बी सैरों का सिलसिला बचपन-भर यानी मेरे दस-बारह साल के होने तक चला।

मजे की बात यह, कि जो पहले-पहले शब्द मैंने स्वयं जोड़ कर पढ़े वे 'कहानी' और 'कल्पना' ही थे।

मुझे याद इसलिए है कि 'कल्पना' लिखने का अन्दाज ऐसा था कि उसमें हर अक्षर अलग लिखा जाता था। और फिर आधा

'ल' मुझे आड़े डमरू-सा लग रहा था। खासी मशक्कत के बाद उस पूरे शब्द को 'कल्पना' शब्द के रूप में पहचान लेने पर एक बड़ी उपलब्धि की-सी खुशी हुई थी मुझे!

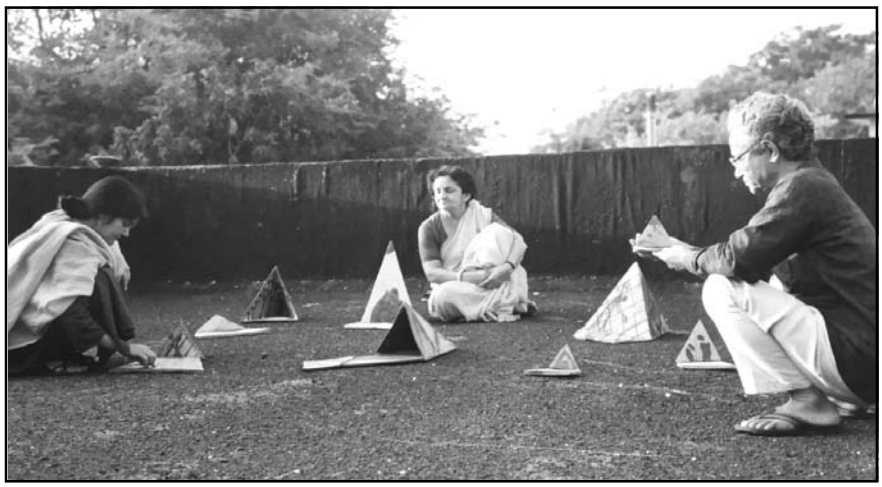

फुर्सत के क्षणों में (बायें से) शम्पा शाह, ज्योत्सना मिलन और रमेशचन्द्र शाह

सीधी की स्मृतियों में हर शनिवार रात आकाशवाणी द्वारा प्रसारित शास्त्रीय संगीत के एक घंटे के अखिल भारतीय कार्यक्रम को सुनने के लिए हम सबका राव साहब के घर जाना भी खास याद है। उनके यहाँ रेडियो था और वे संगीत के रसिक मर्मज्ञ भी थे। उस रात हम सबका भोजन भी वहीं होता था। दक्षिण भारतीय भोजन और संगीत के प्रति मेरा जो राग बना, उसकी जड़ें इन्हीं शामों में हैं।

इतवार को स्वयं हमारे घर संगीत की बैठक होती थी, जिसमें आस-पास के गाँवों से लोग, तबले, हारमोनिम लेकर आते थे। इन बैठकों का सिलसिला पन्ना के तीन वर्षों में भी चला और उनकी असल याद भी मेरे भीतर वहीं से जुड़ी हैं।

किन्तु सीधी में वह कौतुक का विषय इसलिए था कि उस शाम बसें ऐन हमारे घर के सामने रुकतीं। उसमें से लोग अपने वाद्य ले-लेकर उतरते और हमारे यहाँ आते थे। इतने लोगों के बैठने, चाय-नाश्ते का इन्तजाम माँ और विपिन चाचा, जो हमारे साथ ही रह कर पढ़ाई कर रहे थे, किया करते होंगे।

वह सरल जमाना था– घर में कुर्सी-सोफा था नहीं। दरी और कुछ तकिये बिछा कर ही महफिल सज जाती थी। आसपास के घर खुद ही चाय के लिए कप-रकाबी दे जाते। माँ मूँगफली या चिरोंजी की बर्फी बनातीं।

देर रात तक चलने वाली उन महफिलों से शायद पापा अल्मोड़ा में उनके बचपन के सांगीतिक माहौल को पुनर्जीवित कर पाते होंगे।

सीधी के दिनों में एक किरकोड़ काकू भी थे जो पापा की बातों पर मुग्ध रहते थे। पर कभी जवाब में यदि माँ कोई दूसरी बात रखतीं, तो बेहद मानीखेज अन्दाज में मुस्कराते हुए पापा की ओर देखते और कहते, ''पार्टनर, ये तो बहुत डीप चली गयीं!''

पापा को इस पर इतना मजा आता कि वे हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते।

सीधी में कुछ समय के लिए अशोक वाजपेयी कलेक्टर बन कर आये थे। ऊपर जिस कार्यक्रम को अपने रोने से गुँजा देने का जिक्र है, वह उन्हीं ने आयोजित किया होगा। तब उनके घर जाने और उनके हमारे घर सपरिवार नियमित आने की धुँधली स्मृति है।

पहली बार कार में बैठ पिकनिक मनाने के लिए चचाई प्रपात जाने की भी याद है।

हमारे घर चीनी मिट्टी का सुन्दर डिनर सेट भी उन्हें खाने पर बुलाने के निमित्त से आया था जो फिर बरसों-बरस हमारे पास रहा।

माँ ने सीधी रहने के दौरान अँग्रेजी में एमए किया था। लिहाजा वे अधिकांश समय पापा से अँग्रेजी की कविताएँ सुनती-समझती रहतीं। पापा भी इतने मशगूल होते अपनी उन अत्यन्त प्रिय कविताओं को सुनाने-समझाने में कि कई बार उनकी कॉलेज की क्लास छूट जाती।

एक स्मृति में इन दोनों के चुपचाप शतरंज खेलने और पूरे घर में कटहल की सब्जी की खुशबू के फैलने की याद है, जो एक छोटी-सी पीतल की बटलोही में शाम-भर धीमी आँच में पकती रही थी।

पापा को टेबल टेनिस खेलने का भी शौक था और वे कॉलेज में मौजूद सुविधा के चलते वहाँ कभी-कभी खेलने भी जाते थे। वे बड़ी स्टाइल से गेंद को स्पिन कराते हुए खेलते और यह उन्होंने मुझे और माँ को भी सिखाने की कोशिश की थी।

सुनसान सीधी में कई वर्ष बिताने के बाद पापा का तबादला पन्ना हुआ, जो कि एक धड़कता, चहल-पहल-भरा, घरेलू, बुन्देली कस्बा था। दिन-भर रिक्शों में लाउडस्पीकर पर किसी न किसी चीज की मुनादी होती रहती और शाम से आसपास

के मन्दिरों में फिल्मी तर्ज पर भजन बजने शुरू हो जाते।

लेकिन पन्ना के उन तीन वर्षों में माँ-पापा ने जितना लिखा-पढ़ा, उससे लगता है कि यह कस्बा उन्हें बेहद माफिक आया। आखिर माँ को मुम्बई के और पापा को अल्मोड़ा के बाजार के शोरगुल की आदत थी।

माँ ने यहाँ– झमकू, शम्पा, चीख के आरपार, अँधेरे में जैसी कहानियाँ और अपना पहला उपन्यास 'अपने साथ' लिखा तो पापा ने भी यहाँ बीसियों कहानियाँ लिखीं। उनकी 'छायावाद की प्रासंगिकता' और 'समानान्तर' नामक पुस्तकें यहीं रहते हुए छप कर आयीं।

शाम की सैर यहाँ भी बदस्तूर चलती रहीं। हम 'पहाड़ टेकरी' और बस्ती से दूर के किन्हीं निर्जन रास्तों से होते हुए वाहिद पेंटर मास्साब या चौबे जी, या जनार्दन काका के यहाँ आधे घंटे की बैठक जमा कर फिर घर लौटते। ये तीनों घर हमारे खास अड्डे थे।

वाहिद पेंटर मास्साब ऐन तिराहे पर रहते और हर शाम माँ-पापा का इन्तजार ही कर रहे होते। घर में घुसते ही, जो पहला कमरा था, वह उनका स्टूडियो था, जो उनके बनाये तैल चित्रों के कैनवासों से खचाखच भरा रहता। हर रोज ईजल पर कोई न कोई चित्र, जिस पर वे काम कर रहे होते, लगा रहता। वे प्रायः अमूर्त-से चित्र बनाते थे। चित्रों पर माँ या पापा की टिप्पणियों को सुनते हुए सिगरेट के लम्बे कश खींचते और मन्द-मन्द मुस्कराते। स्वयं कहते बहुत कम ही थे। किन्हीं संस्थाओं या लोगों के कहने पर वे कभी पोर्ट्रेट भी बनाते थे।

पापा ने उनके चित्रों के बारे में पूछने पर कहा था, ''देर तक देखने पर उनके चित्रों में तुम्हें कई आकार दिखेंगे।'' तब से उनके चित्र देखना मेरे लिए एक खेल में बदल गया था। वह खेल आज भी अनायास किसी चित्र-दीर्घा में चुपके से मेरे भीतर शुरू हो जाता है।

पन्ना के हमारे पते पर इतनी डाक आती थी कि उससे हमारे मकान मालिक, टेलर मास्साब को शायद लग गया था कि कोई खास लोग उनके मकान में रहते हैं। इतवार को उनकी दुकान बन्द रहती और वे उस रोज सुबह नियमित रूप से हमारे यहाँ आते थे। वे कोई आधा घंटा हाथ बाँधे, विनम्रता की मूरत-से बैठे रहते और उस दौरान एक शब्द भी शायद ही कहते! पापा ही कुछ न कुछ पूछते, किन्तु, उन प्रश्नों का जवाब भी बमुश्किल एक शब्द का होता।

कभी-कभी पापा उनके इतवार की सुबह अटल रूप से आने से बेहद खीज जाते, आखिर यह उनका भी एकमात्र छुट्टी का दिन होता था, पर उपाय ही क्या था? बाद के दिनों में तो वे आते और पापा कई बार लिखने में जुटे ही रहते। मस्साब तब भी उतनी ही देर बैठते और फिर अचानक नमस्कार कह सीढ़ियाँ उतर जाते। मास्साब क्यों आते थे? उन्हें क्या लगता था? यह जानना उनके शान्त, बिना भाव के चहरे से असम्भव था। पर वे और पन्ना के दूसरे कई लोग इन दोनों की कहानियों में गाहे-बगाहे दिखते हैं। क्या पता इसी कारण मास्साब आते हों!

एक किस्सगो को पिता के रूप में पाने का नितान्त निजी सुख भी मैंने पन्ना में खूब पाया। पापा कॉलेज में सुबह की कक्षाएँ लेकर एक बजे तक घर आ जाते थे। दोपहर के खाने के बाद वे लेट कर कहानी सुनाते थे। वे पूछते, ''आज कौन-सी कहानी सुनोगे?'' और मेरा एक ही उत्तर होता– ''लघुपत्लक और उसके दोस्तों की।'' वे कहते, ''फिर वही कहानी?'' और इस तरह से चल पड़ती मेरी प्रिय कहानी। सुनाते हुए वे रोज उसमें कुछ फेर-बदल करते, मुझे और मेरी सहेलियों को भी किरदार बना देते जिससे वह कहानी और करीब आ जाती। क्या आप विश्वास करेंगे कि उस तीन सालों के दौरान मैंने पापा से कुल चार कहानियाँ ही सुनीं- 'मित्र लाभ', 'हार की जीत', 'दो बैलों की कथा' और 'काबुलीवाला'। चूँकि ये सभी कहानियाँ वे पढ़ कर नहीं, स्मृति से सुनाते थे, इसलिए ये आज भी मेरे लिए जीती-जागती कहानियाँ हैं। बाबा भारती के घोड़े के हिनहिनाने की आवाज को वे ही नहीं, मैं भी पहचानती थी। 'मिनी' और मुझमें तो कई सालों तक कोई भेद ही नहीं था!

बाद के वर्षों में राजुला को भी पापा की दोपहर की किस्सागोई का लाभ मिला। लेकिन मजे की बात यह कि मुझसे उलट उसे हर दिन नयी कहानी चाहिए होती थी! पापा ने उसे चार-पाँच सालों तक रोज नयी कहानी गढ़ कर सुनायी। वे सब मौखिक परम्परा में ही रही आयीं। अलबत्ता राजुला के अवचेतन का हिस्सा अवश्य बनी होंगी।

पन्ना के ढाई-तीन वर्ष का प्रवास पापा के लिए एक अन्य कारण से भी बहुत ही मूल्यवान था। मेरा दाखिला वहाँ श्री अरविन्द आश्रम द्वारा चलाये जाने वाले स्कूल में हुआ था। हर माह हमें 'अग्निशिखा' नाम की एक पतली-सी पत्रिका मिलती थी, जिसे मैं बिना खोले सीधे पापा को लाकर दे देती थी। वहीं से पापा की हमारे अँग्रेजी के मास्साब से दोस्ती हुई। उन्होंने श्री अरविन्द की 'सावित्री' पापा को पढ़ने के लिए दी।

उसका असर यह रहा कि लगभग एक साल तक पापा घर की एक अँधेरी, छोटी-सी कोठरी में घंटों ध्यान में बैठे रहते। यह मेरे लिए भी एक अलग ही बात थी क्योंकि ध्यान से उठने के बाद भी वे बहुत देर तक कुछ बोलने की स्थिति में नहीं

होते थे। इस दौरान शायद हमारी शाम की सैर आदि भी छूट गयी। मुझे हल्ला न करने, उन्हें कतई परेशान न करने की हिदायत दी गयी थी। उस दौरान, मैं कोठरी से दबे पाँव, बिल्ली की मानिन्द गुजरती और उनके इस तरह, बिना हिले-डुले घंटों अर्ध पद्मासन में बैठे रहने पर चकित होती।

पापा का यह नया रूप विस्मित करने वाला तो था, लेकिन उन दिनों मुझे खुद ही दम लेने की फुर्सत नहीं थी– नीचे, पतंग, मँजा, लुगदी से टोकरी, गुड़िया और जाने क्या-क्या बनाने का काम मास्टर जी माँ उर्फ बाई करती थी। वह एक ऐसा कुटीर उद्योग था जिसमें पूरा घर-मोहल्ला शामिल था। मेरे लिए तो काम ही काम था वहाँ। और हाँ, बाकायदा हर काम का निश्चित मेहनताना भी मिलता था! लिहाजा शाम की सैर का बन्द होना मेरे लिए खास दुखद नहीं था।

माँ ने इस ध्यान खंड से निपटने के लिए रूसी उपन्यासकारों को पढ़ना शुरू कर दिया था। कुल मिला के वह एक ऐसा दौर था, जब हम तीनों अपनी-अपनी दुनिया में आद्योपान्त डूबे हुए थे। उस दौरान पापा का लिखना-पढ़ना भी स्थगित हो गया था। वे जैसे एक अलग ही दुनिया में थे, जिसे वे चाह कर भी हमसे साझा नहीं कर सकते थे।

इसके बाद वे साहित्य और योग के बीच चुनाव के जिस जानलेवा द्वन्द से गुजरे, उसका पता मुझे और उनके सभी पाठकों को एक हद तक उनके उपन्यासों से चला जो उन्होंने बाद के वर्षों में भोपाल आ कर लिखे। विशेष रूप से 'गोबर गणेश' और 'पूर्वापर' से।

उन्होंने इन दोनों के बीच चुनाव तो तभी कर लिया था, किन्तु यह द्वन्द्व उनके भीतर एक विवादी स्वर की तरह सतत बना ही हुआ है। यह उनकी ऐसी 'गल-फाँस' है जिससे उन्हें आज तक कोई मुक्ति नहीं है।

अब जब उनकी रचनाओं की बात आ ही गयी है तो लगे हाथ यह बता दूँ, कि मैं उनकी पाठक बहुत-बहुत बाद में- ग्रैजुएशन के दौरान बनी। मैंने सबसे पहले उनका उपन्यास– 'गोबर गणेश' पढ़ा था। मैंने उसे तब पढ़ा जब माँ और पापा पाँच दिनों के लिए कौसानी गये हुए थे और मैं और बहन राजुला अल्मोड़ा के घर में थे।

यह पूरा उपन्यास मैंने अल्मोड़ा के हमारे घर की ढलुआँ पत्थर की छत पर बैठ कर पढ़ा। इस छत से अल्मोड़ा शहर को घेरे स्याही देवी, बानड़ी देवी, कसार देवी के पहाड़ और उनके पार हिमालय की चोटियाँ दिखती हैं। यह वे पर्वत शिखर हैं जो पापा के अधिकांश उपन्यासों, कहानियों, कविताओं को असीसते उनके साहित्य में मौजूद हैं। वरद की मुद्रा में खड़े ये उन कृतियों का पार्श्व बनाते हैं।

अल्मोड़े की मुख्य बसाहट जुड़ी-जुड़ी छतों वाले दो कतार में बने घर हैं, जिनमें से प्रत्येक में नीचे दुकान और ऊपर रिहायशी घर हैं। ऊपर की खिड़की से नीचे दिखता बाजार एक ऐसा रंगमंच है जो कभी सूना नहीं होता। आधी रात में भी वह किसी शराबी, किसी पागल के गाये गीत की पंक्तियों या सैनिकों के भारी बूट के नीचे बजते पत्थर का साक्षी रहता है।

पापा के कमरे की खिड़की पर बैठ नीचे देखते हुए मुझे चार्ली चैपलिन द्वारा वर्णित उनके बचपन के दरिद्र मोहल्ले के घर की खिड़की से दिखते बाजार और वहाँ से गुजरते मानव किरदार वाला दृश्य हू-ब-हू याद आता है। ये वही खिड़की थी, जिससे चार्ली ने बचपन में उस व्यक्ति को देखा था, जिसकी चाल-ढाल, पहनावा उन्होंने अपनी अधिकांश फिल्मों में अपनाया। वे जब इस आदमी की नकल कर के अपनी माँ को दिखा रहे थे, तो वे हँसते-हँसते आँसुओं से सराबोर हो गयी थीं। और तब उसी क्षण, चैपलिन ने जान लिया था कि 'किरदार' और 'अभिनय' कैसा होना चाहिए– जो हँसाते-हँसाते रुला दे!

पापा के लिए भी अल्मोड़े का यह बाजार– असंख्य किरदारों से भरा एक मेला रहा आया है। वे कितना ही लिख लें इन किरदारों के बारे में, फिर भी उनके पास कहने से कुछ छूट जाने की प्रतीति बनी रहती है।

गोबर गणेश को पहली बार पढ़ना मेरे लिए एक धूप-छाँही अनुभव था। मेरे सम्मुख यह उपन्यास होने के बावजूद पिता के बचपन, किशोर और फिर युवा होने के दिनों का एक चलचित्र भी था। इसके भूगोल के चप्पे-चप्पे को मैं जानती थी, उनके साथ उन तमाम गलियों-कूचों से गुजरी थी। उस उम्र में मेरे लिए अपने 'पिता' और उपन्यास के 'लेखक' को अलगाना कठिन था। उपन्यास में उनके जीवन का वह हिस्सा था, जहाँ मैं अनुपस्थित थी!

अचानक पता चला कि उनका अल्मोड़ा 'उनका' था, मेरा अल्मोड़ा 'मेरा'। मेरे अल्मोड़े में वे थे, उनके अल्मोड़े में मैं नहीं थी। यह सब उस उम्र में मेरे लिए समझना कठिन था, आज इतने वर्षों बाद अलबत्ता यह हँसी की बात लगती है।

इस कुछ कँटीली, भावनात्मक बागड़ को पार करने में कठिनाई हुई, लेकिन कुछ दिनों बाद इसे पार कर लेने पर, मैं उनके रचनाकार पक्ष को देख पाई।

जगन कका की डायरियों में ध्यान की गहरी अनुभूतियों, संवाद की उनकी आकुलता और मथुर कका के जीवन्त व्यक्तित्व ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था। जब माँ-

अज्ञेय जी के साथ

पापा कौसानी से लौटे तब पापा से उस पर लम्बी बातचीत हो पाई। जब उन्होंने बताया कि 'सरोज' और 'जगन कका' के किरदार पूरी तरह से काल्पनिक हैं, तब मुझमें इस बात की समझ गहरायी कि उपन्यास के लेखक को उस व्यक्ति से अलगाना कितना जरूरी है जो संयोग से मेरा पिता भी है। और यह भी कि यदि मैं यह न कर पायी तो कृति और कृतिकार दोनों को समझने में गलती करूँगी।

साहित्य– खासकर उपन्यासों पर मेरी पापा से गम्भीर बातचीत के सिलसिले को चले हुए कुछ वर्ष हो चुके थे। तब से हमारे बीच सिर्फ पिता-पुत्री का ही नाता नहीं रह गया था। हमने अचानक एक-दूसरे में अपना एक समवादी, एक मित्र भी पा लिया था। यह शायद हम दोनों के लिए बड़ी घटना थी। यद्यपि मेरे लिए यह कहीं अधिक बड़ी घटना थी।

ऐसा अनायास एक रोज तब हुआ, जब मैं दसवीं कक्षा में थी। स्कूल के पुस्तकालय से लाये गये उपन्यास 'वूदरिंग हाइट्स' ने मुझे कुछ इस तरह बेचैन, उद्विग्न किया कि मैंने उनके कमरे में धावा बोल दिया। मैं बोलती चली गयी और वे सुनते रहे। अगले दिन, उन्होंने वह उपन्यास दोबारा पढ़ा और हम हीथक्लिफ और कैथरीन के जटिल प्रेम पर फिर से बातें करने लगे।

ऐसा फिर अकसर होने लगा। मुझे याद है कि एक गर्मियों की छुट्टी में मैंने जैनेन्द्र जी का 'त्यागपत्र', किप्लिंग का 'किम' और हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ कर लम्बे लम्बे पत्र उन्हें लिखे थे।

ख्याल नहीं आता है कि उन्होंने कभी भी मेरे उत्साह को ठंडा करते हुए यह कहा हो कि इस उपन्यास के ये-ये खास बिन्दु हैं या कि मैंने तो इसे बहुत पहले ही पढ़ लिया था।

इसके उलट उनसे बात करते हुए यही लगता कि मैं कोई महत्त्व की बात कह रही हूँ जिस पर उनका ध्यान अभी-अभी गया है। वे कहते, ''अब तुम्हारे ऑबजर्वेशन के आलोक में उसे फिर से पढ़ूँगा। जब पढ़ा था, तब लगता है, अच्छी तरह नहीं पढ़ा था।''

जाहिर है, मुझे इससे कुछ मान भी होता होगा और एक किस्म का आत्मविश्वास भी जागा होगा। इसने हमारे सम्बन्धों में एक स्वातन्त्र्य पैदा किया और ठोस जनतान्त्रिक बुनियाद भी डाली। यह बुनियाद इतनी पुख्ता बनी कि मैं माँ के साथ, पापा की कई कृतियों की पहली पाठक और आलोचक रही।

यह उन्हीं का दिया हुआ खुलापन था, जिसमें हम बेधड़क अपनी बात कह सकते थे।

'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' नाम के उपन्यास में तो हमारे सुझाव को मानते हुए उन्होंने दो पूरे अध्याय हटाये और इनके बदले एक बिल्कुल नया अध्याय लिख कर जोड़ा। यह कितनी बड़ी बात है, इसके लिए कितना बड़ा दिल और दूसरे पर भरोसा चाहिए।

इसके ठीक उलट, हम (यानी मैं और मेरी बहन राजुला) यदि अपना लिखा उन्हें कुछ सुनाते हैं, तो वे कोई खास मीन-मेख नहीं निकालते और यही कहते हैं, ''बेटे, इसे कहीं छपने भेज दो, छपने से एक दूरी पैदा होती है और उसकी कमी व खूबियाँ दोनों ज्यादा बेहतर समझ में आती हैं।''

कई बार हम मजाक में उनसे कहते हैं, कि वे बचने के लिए ऐसा करते हैं, जिस पर वे आज भी बच्चों की तरह नाराज हो जाते हैं।

मुझे लगता है कि यदि किसी भी सम्बन्ध को जीवन्त बने रहना है तो उस पर काम करना होता है, फिर वह बहुत करीबी सम्बन्ध ही क्यों न हो। उसे लगातार बगीचे के एक पौधे की तरह सींचना होता है। हम हर दिन कुछ बदलते हैं, चीजों को देखने-समझने की दृष्टि बदलती हैं। उम्र के साथ कई चीजों को लेकर हताशा घेरती है। समय का दबाव बढ़ता जाता है। और यह सिर्फ हमारे नहीं, हर किसी के साथ हो रहा होता है। ऐसे में दूसरे के द्वारा समझे जाने, उसकी चिन्ता के दायरे में होने

का अहसास आपको बेरहम जीवन के जंगल से बचा सकता है। पर यह यूँ ही नहीं होता, इसके लिए संवेदन और चेतना का एक स्तर चाहिए और साथ ही उसमें दूसरे के लिए जगह बनानी होती है। पापा के साथ अपने सम्बन्धों के पूरे विस्तार को देखती हूँ तो उसमें रह-रह कर ऐसे पड़ाव दिखते हैं, जहाँ मैं दोराहे या चौराहे पर दुविधा में खड़ी थी। उन्होंने रास्ता तो कभी नहीं बताया। पर जो रास्ता मैंने चुना, जाने-अनजाने, उस पर विश्वास के साथ चलने के लिए जो भावनात्मक पाथेय जरूरी था, वे उसे लिये, बिल्कुल बिना जताये, ऐन सही जगह पर उपस्थित रहे। इसके मुझे कुछ बिल्कुल अलग-अलग किस्म के उदाहरण याद आते हैं।

एक मौका तब का है जब हम पन्ना से भोपाल आये और मेरा दाखिला नये स्कूल में तीन माह विलम्ब से हुआ। मेरी छोटी बहन जन्म लेने वाली थी और इसीलिए माँ को दो-तीन माह के लिए मुम्बई जाना पड़ा। विकट स्थिति थी। न चोटी बनाना आता था, न सूती ड्रेस में प्रेस करना। तिस पर तीन माह का बकाया काम। बच्चे और अध्यापक दोनों ही उस गँवई लड़की का साथ देने को कतई राजी नहीं थे जिसने तीसरी कक्षा में दाखिला लिया था। स्कूल जाने में मेरे प्राण निकलते। कई बार मैं पेट दर्द का बहाना करती ताकि पापा स्कूल न भेजें। लेकिन इससे अगले दिन मुसीबत और भी बढ़ जाती। पापा ने मुझे छूटे हुए सारे अध्याय पढ़ाये, उनके प्रश्न-उत्तर लिखवाये। मुझे इसमें मजा भी आया, लेकिन जब वे उत्तर मैंने टेस्ट में लिखे तो अध्यापिका ने सारे पन्ने लाल स्याही से काट कर शून्य दे दिया। जो उन्होंने लिखवाया था, वही सही उत्तर था, और कुछ नहीं चलेगा। अगले माह फिर से मुझे सिफर दिया गया। इस बार तो मुर्गा भी बनाया गया, यह कह कर कि मैंने नकल की होगी, वर्ना मुझे कैसे आ गया! तब तक मुझे यकीन मानिये, परीक्षा में नकल क्या होती है, इसका दूर-दूर तक कोई अन्दाजा ही नहीं था। चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास तो मैंने आठवीं में आने पर पढ़े, लेकिन उनमें वर्णित भयावह स्कूल, क्रूर बच्चे और बेरहम अध्यापकों को मैंने तीसरी में जान लिया था। स्कूल के दूसरे दर्दनाक किस्से तो पापा को मैंने नहीं सुनाये लेकिन रिजल्ट पर तो उनके हस्ताक्षर होने थे, लिहाजा सिफर वाले पन्ने उन्हें दिखाये। वे बिफर पड़े और स्कूल जाकर शिकायत भी दर्ज की। उन्होंने यह भी कहा कि मुझे किसी की परवाह न करते हुए, उत्तर अपने मन से ही लिखना और तब उसे टीचर से जँचवाना चाहिए। स्कूल बदलने का खयाल न मुझे आया न उन्हें।

इस दौरान जिस एक चीज का मुझे सबसे अधिक इन्तजार रहता, वह था रात में पापा के साथ मिल कर खाना बनाना। कितना कुछ सीखा मैंने उन दिनों– सिगड़ी में कोयले जमाना ताकि हवा जाने का रास्ता रहे और सिगड़ी अच्छी सुलगे। ऐसे आटा गूँथना कि परात बिल्कुल साफ मिले, बिलते हुए रोटी

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

नवलेखन विशेषांक

नयी सदी की नयी रचनात्मकता को प्रश्रय, प्रोत्साहन और संरक्षण देने के उद्देश्य से ही 'वनमाली कथा' का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। हम शीघ्र ही **नवलेखन विशेषांक** का प्रकाशन करने जा रहे हैं। इसके लिए नवागत रचनाकारों से कहानियाँ आमन्त्रित की जा रही हैं। विदित हो कि इस अंक में हम उन्हीं रचनाकारों को स्थान दे सकेंगे, जिनकी कहानियों की पहली किताब अभी प्रकाशित न हुई हो। कहानियाँ भेजने का पता है– *सम्पादक, वनमाली कथा, वनमाली भवन, 22/ई-7, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (मध्यप्रदेश)*। कृपया लिफाफे पर मोटे अक्षरों में 'नवलेखन विशेषांक के लिए' जरूर लिखें। हमारा ई-मेल पता है– vanmali@aisect.org यदि आप ई-मेल से कहानी भेजते हैं तो subject में 'नवलेखन विशेषांक के लिए' लिखें। रचना-प्राप्ति की अन्तिम तिथि 31 अगस्त तय की गयी है।

गोल-गोल कैसे घूमती है, उसके फूलने की ट्रिक क्या है, यह सब मैंने परिस्थितिवश माँ से नहीं, पापा से सीखा। माँ के होने पर खाना बनाने की तब तक नौबत ही कहाँ आयी थी! पापा हर चीज को खेल में बदल देते, रोटी फूलती तो उसका गाना बन जाता, जल जाती तो उसका भी गाना बन जाता।

दाल का बघार तो उनके हाथ जैसा मुझे आज तक किसी का नहीं लगा। वे छोटी-सी कड़छुल में, जरा-से मसाले से बघार लगाते और कहते, ''सारा खेल प्रपोर्शन और टाईमिंग का है, मसाले से कुछ नहीं होता!''

उस दौरान जन्माष्टमी भी पड़ी थी और रात में हमने ताल मखाने की खीर भी बनायी थी! हमारे घर में देवता तो थे नहीं, न कभी पूजा होती, लिहाजा सारा भोग खुद को ही लगाया गया था।

हम सिर्फ रात में ही खाना बनाते, क्योंकि सुबह पापा को कॉलेज जाना होता था, जो कोई चार मील दूर था। वे पैदल ही आते-जाते। सुबह डबलरोटी से काम चलता था। लेकिन एक-माह बाद विपिन चाचा के साथ दादी आ गयीं और उन दोनों ने सबकुछ सँभाल लिया था। और फिर कुछ दिनों बाद तो माँ भी नन्ही-सी बहन को लेकर आ गयी और स्कूल में भी धीरे-धीरे कुछ दोस्त बन ही गये। पापा के साथ खेल-खेल में खाना बनाने का सुख नहीं होता तो स्कूली यातना और अकेलेपन से भरे वे दिन कैसे कटते, सोचती हूँ।

दादी और माँ के आ जाने के बाद पापा के मन में उन्हीं दिनों असीम उछाँह का दौर आया था। इसी दौरान एक सुबह उन्होंने 'गोबर गणेश' का पहला अध्याय लिखा जो आप में से बहुत से लोग जानते होंगे कि एक ही बैठक में लिखा गया था। पूरे उपन्यास को लिखने में तो हालाँकि फिर समय लगा।

इस उम्र का एक और वाकया याद आता है। गणेश चतुर्थी के आस-पास उन दिनों मोहल्लों में पर्दा लगाकर फिल्म दिखायी जाती थी। उस शाम 'तुलसीदास' फिल्म दिखाई गयी। फिल्म में वह दृश्य आया जब भयानक बारिश, तूफान और उफनती नदी की परवाह किये बगैर तुलसीदास रत्नावली से मिलने आ पहुँचे और साँप को डाल समझ पकड़ कर ऊपर की खिड़की से उनके पास जा पहुँचे। आप सब जानते ही हैं कि रत्नावली ने किस प्रकार और क्यों उन्हें वापस भेज दिया था। इस दृश्य में रत्नावली की घोर नाइंसाफी को देख रोते हुए मैंने घर की ओर दौड़ लगा दी। मैं सीधे पापा के पास पहुँची और उन पर अपनी नन्ही मुट्ठियों से ताबड़-तोड़ प्रहार करते हुए बोलती रही, ''तुलसीदास को वापस बुलाओ! रत्नावली ने उन्हें क्यों जाने को कहा?''

कुछ तो जवाब दिया होगा पापा ने, वह याद नहीं है। पर इतना याद है कि माँ और पापा भी रो पड़े थे उस समय।

बचपन में हर साल एक ऐसा मौका आता जब मेरे और पापा के बीच उम्र का फासला कुछ देर को घट जाता। तब हम हर साल गर्मियों में अल्मोड़ा और दिवाली में मुम्बई जाते थे। काठगोदाम से बस पहाड़ की घुमावदार सड़क पर जैसे ही आगे बढ़ती, माँ और छोटी बहन राजुला पस्त हो जाते। उल्टी न हो इसके लिए वे पहले ही दवा खा लेते, इसके बावजूद उन्हें हमारी गोद में सिर रख अधलेटा होना होता। मैं और पापा खिड़की से हर मोड़ के बाद बदलते दृश्य को उत्सुकता से देखते। पापा कई बार मोड़ के पहले ही बता देते कि अब कौन-सा शिखर या गाँव आने वाला है। इस पूरे रास्ते में नदी लगभग साथ चलती है, कभी हम उसकी बराबरी में चलते हैं तो कभी वह बहुत नीचे छूट जाती है। नदी की यह लुका-छिपी इस रास्ते को बहुत रोचक बना देती। रास्ते में आनेवाली तीन जगहों का मुझे विशेष इन्तजार रहता– गरम पानी, भुवाली और ज्योलिकोट। गरम पानी में उतर कर सदियों से बह रहे एक प्राकृतिक सोते के पानी से मुँह छपकाने और फिर गरमा-गरम आलू और रायता खाने से मेरे सिर का घूमना ठीक हो जाता। भुवाली पर पहली बार पहाड़ी फल– खुबानी, आड़ू, आलू बुखारा मिलते और ज्योलिकोट में हिसालू, काफल जैसे जंगली फल, दोने में मिलते थे।

पापा ने बताया था कि हमारे दादाजी कभी इसी गाँव में रहते थे और बाद में अपने भाई के साथ यहाँ का सबकुछ यूँ ही छोड़, अल्मोड़ा आ कर बस गये थे। इसके चलते मुझे उस जगह से बहुत लगाव महसूस होता और हर फल का दोना लिये लड़के के चहरे में न जाने क्यूँ मैं अपने दादा जी का युवा चेहरा खोजती थी।

बस से जाते हुए पापा कई बार मुझे वे कच्ची पगडंडियाँ भी दिखाते जिन पर विवेकानन्द जैसे असंख्य लोग पैदल आते-जाते रहे हैं और जिन पर पापा भी कभी अपने पिता यानी दादाजी के साथ गये थे। सुन कर मुझे रोमांच हो जाता। क्या लोग थे, कैसा माद्दा था उनमें! मन में आता कि मैं भी कभी इन पर पैदल चलूँ।

यह इच्छा अभी भी स्वप्न की तरह बनी हुई है– बहुत दूर और बहुत पास।

जिस मोड़ से अल्मोड़ा के आस-पास के पहाड़ दिखने शुरू होते, वहाँ से तो पापा के हाथ की उँगलियाँ थिरकने लगतीं,

चेहरे पर एक दीप्त मुस्कान खिल उठती और वे कहते, ''ज्योत्स्ना, अब बस पहुँचने ही वाले हैं हम!''

अल्मोड़ा जितना असल में वहाँ उत्तराखंड के एक शहर के रूप में बसता है, मुझे लगता है कि उससे कहीं अधिक पापा के मन में बसता है। उसकी चप्पा-चप्पा, गली, बाजार, मन्दिर, मोहल्ले, सीढ़ियाँ, पेड़, जंगल, पगडंडियाँ, सुवाल और कोसी नदियाँ, पहाड़ और वे रास्ते जिन पर अनगिनत बार वे चले थे और चलते ही रहेंगे, सब के सब उनके भीतर समाये हुए हैं।

वे दुनिया में कहीं भी हों, अल्मोड़ा उनके भीतर, उनके साथ होता है।

अल्मोड़ा की बचपन की स्मृतियों में एक बिल्कुल अलग मिजाज की घटना याद आ रही है। वहाँ हमारे घर से थोड़ी-सी दूर सुरेन्द्र चचा की पान की दुकान थी और वहाँ से पान लाने की ड्यूटी मेरी थी। मुझे भी सुरेन्द्र चचा की दुकान जाना पसन्द था, वे मुफ्त में मुझे ढेर सारी मीठी रंग-बिरंगी सौफ दिया करते थे। एक रोज उनकी दुकान के ऐन सामने के घर में एक बच्चे की मृत्यु हो गयी। मोहल्ला तो एक ही था, घर पर बच्चे और उस परिवार की बात चल रही थी।

बचपन में मेरे भीतर मृत्यु का भयानक खौफ था, मुझे लगता कि जिस घर में मौत हुई है, उस ओर मैंने अगर देख भी लिया तो मृत्यु मेरे पीछे-पीछे घर आ जाएगी।

उस रोज पापा ने जब मुझसे पान लाने के लिए कहा तो मैंने उन्हें साफ कह दिया कि आज मैं पान नहीं ला सकती क्योंकि सामने के घर में एक बच्चा मर गया है।

मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए वे बोले, ''जानती हो, उसी मोहल्ले में, दो घर छोड़ शायद आज ही किसी बच्चे ने जन्म भी लिया है। बताओ तुम इन दो में से किसे मानोगी?''

उनकी इस छोटी-सी बात ने मेरे भीतर की एक बड़ी गुत्थी को एक झटके में सुलझा दिया। एक नवजात शिशु की कल्पना ने मृत्यु के आतंक को एकबारगी पोंछ दिया। मैं फौरन पान लेने चली गयी। मैंने उस घर की ओर भी देखा जो मातम में डूबा था।

और तब, मैं आसपास के घरों से किसी नवजात के रोने की आवाज को सुनने की कोशिश करने लगी...

युवा दिनों की एक घटना साझा करती हूँ।

कॉलेज की पढ़ाई समाप्त कर मेरी बहुत अजीज मित्र अरुन्धती की नौकरी लग गयी और वह शहर से चली गयी। एक समय के बाद उसका कोई समाचार मुझे नहीं मिला। लेकिन एक दिन विदेशी डाक टिकिट लगे लिफाफे में उसका पत्र मिला। उसने अपने अमेरिका में होने की खबर दी और साथ ही यह भी बताया कि इस बीच अचानक ही उसका विवाह भी हो गया है। अरुन्धती से मिलने की असम्भाव्यता, एक दौर के सदा के लिए खत्म हो जाने और न जाने किन अनगिन कारणों से मेरा मन उमड़-घुमड़ आया। तभी पापा वहाँ आये, पता नहीं कि उन्हें कैसे मेरे मन की अवस्थिति का अहसास हुआ। उन्होंने मेरे लिए भी चाय बनायी और फिर चाय पीते हुए, अनायास ही जीवन के रहस्यमय, पल-पल बदलते स्वरूप पर बात करने लगे। न उन्होंने कुछ पूछा, न मैंने बताया। पर जो बात हुई, उसके उजाले में मन पर छाये काले बदल हल्के हो गये।

जीवन की राहें अकेली ही सही, फिर से सह्य हो उठीं।

कितनी ही बार पापा ने मेरी ऐसी मनस्थितियों को मेरे बिन कुछ बताये ही जान लिया है। उन्होंने कभी पूछ-पूछ कर उसे उघाड़ने की कोशिश नहीं की।

मेरे अन्तरंग एकान्त का हमेशा ख्याल रखा। लेकिन, जो प्रश्न, आशंकाएँ मुझे घेरे थीं, उन पर जैसे अनायास बात कर, मुझे अकेलेपन से बचा लिया।

पढ़ाई, नौकरी, प्रेम और विवाह पर उन्होंने बात ही न की हो ऐसा भी नहीं था, लेकिन उसकी चिन्ता की हो, पीछे पड़े हों ऐसी भी कोई स्मृति नहीं है। बल्कि इसके उलट साक्ष्य ही अधिक हैं।

मेरी एमएससी फाइनल की परीक्षा चल रही थी जब भारत भवन, भोपाल में तीन दिवसीय भीमसेन जोशी प्रसंग आयोजित हुआ। मैंने पढ़ाई के चलते जब कार्यक्रम में न जाने का मन बनाया तो वे लगभग बिफरते हुए बोले, ''अरे परीक्षाएँ तो होती रहेंगी, भीमसेन जोशी प्रसंग क्या जीवन में दोबारा होगा? पढ़ाई का समय कुछ और बिठाओ!'' मैं तो दंग रह गयी उनकी बात से, आखिर रोज सुबह पाँच बजे उठ कर पढ़ने के लिए भी तो वे ही कहते थे। चुनाँचे हुआ यह, कि तीनों दिन सुबह-शाम हर बैठक में हम सब गये और उस अद्भुत गायन के रस से पढ़ाई में भी मेरी एकाग्रता सचमुच अधिक बनी।

भारत भवन में मेरे सिरेमिक्स सीखने का निमित्त भी संयोग से पापा ही बने। वे ही पहले-पहल अपने कॉलेज से एक माह की माटी कार्यशाला की जानकारी लाये थे। पर उन्होंने तब सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं वनस्पति शास्त्र का अपना प्रिय विषय छोड़ कर खुद को पूरी तरह से मिट्टी में रमा लूँगी। खुद मैंने भी तब कहाँ ऐसा सोचा था! लेकिन जब पापा और माँ ने मिट्टी में काम करने के मेरे उत्साह और आनन्द को देखा

अल्मोड़ा जितना असल में वहाँ उत्तराखंड के एक शहर के रूप में बसता है, मुझे लगता है कि उससे कहीं अधिक पापा के मन में बसता है। उसकी चप्पा-चप्पा, गली, बाजार, मन्दिर, मोहल्ले, सीढ़ियाँ, पेड़, जंगल, पगडंडियाँ, पहाड़ और वे रास्ते जिन पर अनगिनत बार वे चले थे और चलते ही रहेंगे, सब के सब उनके भीतर समाये हुए हैं।

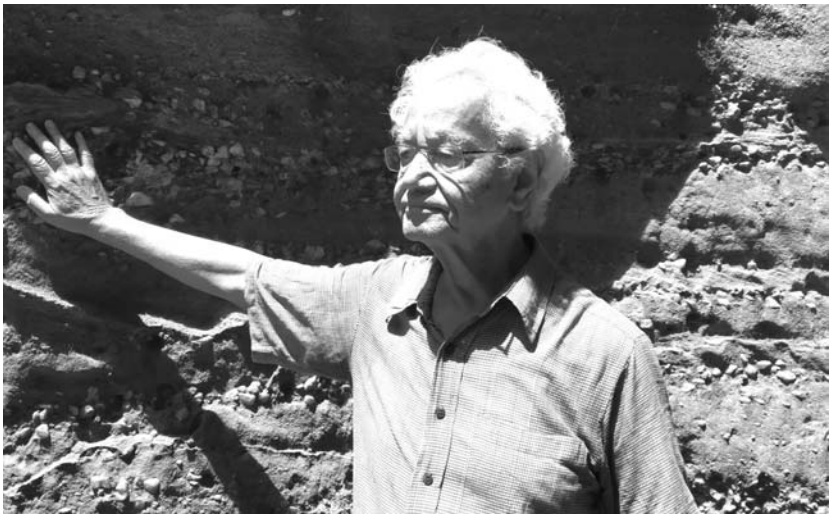

तब कैरियर आदि की चिन्ता न करते हुए, बढ़-चढ़कर इस काम को करने के लिए हौसला ही बढ़ाया। हालाँकि इसमें जो शारीरिक मेहनत है, उसे देख वे अकसर आज भी कहते हैं कि सिरेमिक्स में बहुत काम कर लिया तुमने, अब पढ़ने-लिखने पर ध्यान लगाओ!

किशोर दिनों से ही मेरी और बहन राजुला की पढ़ने-लिखने में रुचि ने उन्हें खुशी दी है। वे अकसर कहते हैं कि जिसकी दोस्ती पुस्तकों से हो गयी, वह जीवन में कभी अकेला नहीं महसूस करेगा।

यह भी कहते हैं कि लिख कर ही हम जान सकते हैं कि असल में हम क्या हैं, क्या सोचते हैं? हमारे स्वप्न और चिन्ताएँ क्या हैं? लेकिन मजे की बात यह, कि हमारे पढ़ने या लिखने के भी वे पीछे कभी नहीं पड़े।

उन्होंने पिता होने के नाते हम पर मालिकाना हक न कभी समझा, न जताया।

अन्य लोगों को भी जरूरत पड़ने पर यही कहते रहे कि हर बच्चा एक स्वतन्त्र सत्ता है, हम उसके इस पृथ्वी पर आने के निमित्त-मात्र हैं। इसलिए उसकी जरूरी परवरिश तो करनी है लेकिन ज्यादा चिन्ता नहीं करनी है।

ख्याल आता है कि एक बार, मैं किसी कारणवश मानसिक रूप से बेहद उद्विग्न-परेशान उनके पास पहुँची थी। मैं अपने ही व्यवहार से बेहद त्रस्त थी। मुझे लग रहा था जैसे मेरा खुद अपनी भावनाओं, अपने आचरण पर कोई नियन्त्रण नहीं रह गया है। मेरे स्वर में उन्हें हारा हुआ-सा भाव शायद दिखा होगा और जो गलत भी नहीं था। वे बोले, ''मैं तुम्हें लेकर पूरी तरह आश्वस्त हूँ। तुममें कुछ मेरा है। तुम किसी भी गर्त से अपने को बाहर निकाल लाने में सक्षम हो। जो लेखक या किताब तुम्हें प्रिय है, उसकी शरण में जाओ, वह तुम्हें जरूर उबार लायेगी।''

मैंने हू-ब-हू उनके कहे का पालन किया और सचमुच उस रात लेविस्ट्रौस की 'ट्रिसटीज ट्रोपीक' ने मुझे गहरे गड्ढे से बाहर निकाल कर खड़ा कर दिया। तब से आज तक यह वो मन्त्र है जिसका इस्तेमाल मैं कई बार करती हूँ और जो प्रायः हर बार मुझे मुश्किलों से उबार लाया है।

कुछ ही चीजें हैं, जिनके पालन पर उनका बहुत जोर रहा है। स्वस्थ रहने, नियमित दिनचर्या और सुबह उठने को लेकर उनका हमेशा आग्रह रहा है, और जो आज भी जस-का-तस बना हुआ है। उनका जीवन खुद इनके पालन की मिसाल बन खड़ा है। इन तीनों का कड़ाई से उन्होंने पालन न किया होता तो यह सम्भव ही नहीं था कि वे नौकरी-परिवार और इतनी सारी रुचियों के बीच इतना पढ़-लिख पाते। लेकिन उनकी इस नियमित दिनचर्या के पालन के अन्तर्गत आने वाली तमाम बातें कई बार हम सबको बेहद खिझाती भी हैं।

उनके ढेर से दूसरे भी दुराग्रह हैं– दाल तो सिर्फ तुअर की होती है, बैगन तो सब्जी ही नहीं है, सूरज के उगने के बाद सोते रहना दलिद्दरी का लक्षण है, मिठाई और पान तो सिर्फ उत्तर प्रदेश वाले जानते हैं, अचार तो सरसों के तेल में ही बनता है, दाल-सब्जी में मीठा डलना, महावाहियात बात है, आदि आदि।

इनसे घर में 'बैटल ऑफ प्लासी', 'बैटल ऑफ हल्दी

घाटी' चलते ही रहे हैं, चलते ही रहेंगे! इन बातों का प्रतिवाद करो तो वे यह भी बोल उठते हैं कि बहस मुझे पसन्द नहीं है, बड़ों की बात को चुपचाप मान लेना चाहिए।

यानी जिन्दगी और साहित्य या कला की बड़ी बातों पर तो चर्चा हो सकती है पर 'तुअर ही असल दाल है' इस पर बहस नहीं हो सकती!

माँ ने बहुत हद तक उनकी इन तमाम पसन्द-नापसन्द का प्रेमवश ख्याल रखा। लेकिन कई चीजों पर बिल्कुल अड़ी भी रहीं। साहित्य और कला से जुड़े सारे कार्यक्रमों और लेखकों से मिलने के अवसरों में साथ जाने पर वे अड़ी रहीं भले ही बच्चे छोटे हों। पापा इसके लिए इनकार भी कैसे कर सकते थे– एक साहित्यकार प्रेमिका और पत्नी का चुनाव भी तो उनका अपना था! इन दोनों के इस समझौते का नतीजा था कि हम दोनों बहनों को साहित्य और कला की तमाम विधाओं को देखने-सुनने का मौका तब से मिला जब हम इन्हें बुद्धि से समझ नहीं सकते थे। लेकिन बुद्धि ही सबकुछ तो नहीं होती।

वे तमाम बिम्ब, ध्वनियाँ, अनुभूतियों के रूप में दर्ज होती रहीं और आज गाहे-बगाहे हमारी बुद्धि में इजाफा करने के लिए स्मृति के घट से प्रकट होती रहती है।

भोपाल के हमारे घर में वर्षों जैसा साहित्यिकों का मेला हमने लगा देखा है और इलाहबाद, दिल्ली, कोलकाता, लखनऊ जा कर लेखकों से मिलने की जैसी उत्कंठा इनमें देखी है, उन सभी से पत्राचार देखा है, उससे यही जाना है कि महाभारत के अर्जुन की तरह पापा की सबसे बुनियादी खोज या चाह एक ऐसे संवादी की है, जिसके आगे वह अपनी तमाम दुविधाएँ अपने सारे प्रश्न खोलकर रख सके।

उन्होंने इस संवादी को अपने अग्रजों, समवयस्कों और युवतर पीढ़ी में खोजा है।

उन्होंने इस संवादी को अपने पिता, चाचा, माँ, भाई-बहनों, अपनी पत्नी और फिर हम बच्चों में भी खोजा है।

उन्होंने इसे स्वयं अपने को विभक्त कर, अपने भीतर ही संवादी रचने का उपाय भी किया है।

नर को नारायण का साथ मिले, यह तो कहाँ सम्भव होता है? लेकिन टुकड़े-टुकड़े में ही सही उन्होंने अपने इस संवादी को बार-बार खोजा और पाया है।

उनके सारे उपन्यासों के पात्र लम्बी और गहन चर्चाओं में रत मिलते हैं, जैसा कि रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में भी मिलते हैं।

उनके सारे साहित्य में इस 'अन्य' की खोज ही सर्वोपरि है जिससे कि असल 'संवाद' कायम हो पाये और 'अन्य' 'अनन्य' बन जाए।

जैसा कि मलयज जी ने पापा की आलोचना की विशिष्टता को इंगित करते हुए एक पत्र में लिखा है, ''तुम्हारी आलोचना किन्ही सिद्धान्तों, अवधारणाओं या वाद के चक्कर में ना पड़कर सीधे कृति से संवाद करती हुई अपना रूप ग्रहण करती है। यह एक कृतिकार के कृति से संवाद से उपजी आलोचना है।''

यहाँ एक बिम्ब मेरे सामने उभर रहा है।

माँ का अन्तिम उपन्यास केशर माँ छप कर आया है।

उन्होंने हम सभी को अलग से प्रति भेंट की है।

पापा ने उसी रोज, एक बैठक में उसे पूरा पढ़ डाला।

उपन्यास को समाप्त कर, उसे हाथ में लिये, बड़ी भावविह्वल स्थिति में वे माँ के कमरे में आये और बोले, ''इस उपन्यास में तुम स्वयं अपनी सारी सीमाएँ लाँघ गयी हो ज्योत्स्ना! यू हैव रिटन दि बुक ऑफ योर लाइफ!''

माँ के चेहरे पर जो भाव आया, उसका बयान क्या करूँ? आप सब उसे महसूस कर सकते हैं– एक राग के वादी-संवादी स्वरों की आपसदारी।

माँ के न रहने ने उनके भीतर एक बड़ा-सा खोखल सिरज दिया होगा, जिसकी भरपाई कोई नहीं कर सकता है।

सब कहते हैं कि हम लोग उनकी अच्छी देखभाल कर रहे हैं।

लेकिन इससे उलट बात भी उतनी ही सही है।

और इससे भी बड़ा सच यह है, कि पापा के वे तमाम संवादी जो आज देह से इस धरती पर नहीं हैं– हमारे नाना वीरेन्द्र कुमार जैन, नानी, दादा-दादी, मलयज, अज्ञेय जी, निर्मल जी, मटियानी जी, शल्य जी, नवीन चाचा, अशोक सेक्सरिया, मुकुन्द जी, अर्घ्य, प्रभा बुआ, आलोक और पवन मामा, लवलीना मौसी और हाँ, हमारी माँ ने ही पापा और हम सबको सँभाला हुआ है।

इतना लिख लेने के बाद, आज भी पापा को लगता है कि अभी, उन्होंने अपनी असल किताब नहीं लिखी है। कि, उसे लिखा जाना अभी बाकी है।

यही मनाती हूँ कि जब भी सुबह मेरी नींद खुले, मैं उन्हें अपनी मेज पर पहाड़-सी बैठक जमाये, बुक ऑफ हिज लाइफ लिखने में रमा हुआ पाऊँ।

मो. 9424440575

स्वरशेष

...नाम गुम जाएगा
चेहरा ये बदल जाएगा
मेरी आवाज ही पहचान है
गर याद रहे...

भूपिन्दर सिंह

उदासी के औलिया का जाना

युनूस खान

कुछ आवाजें हमारी उदासियों की आवाजें होती हैं। यकीन मानिए जिस तरह जिन्दगी में हम मुस्कानें सहेजते हैं, उसी तरह सहेज कर रखना होता है उन आवाजों को जो गहरी उदासियों में हमें सहलाती हैं। उदासियों में उँगली थाम चलने वाली आवाजें कम होती हैं। जब हम डूब रहे होते हैं– ये आवाजें हमें थाम लेती हैं। जिन्दगी की दुश्वारियों को सहने का हौसला देती हैं और हम पथरीली राहों पर ठोकरें खाकर आगे बढ़ जाते हैं। भूपिन्दर सिंह इसी तरह की आवाज हैं।

मैंने 'हैं' इसलिए कहा क्योंकि जब उनके शरीर छोड़ने की खबर आयी, तो पल-भर के लिए जी 'धक' रह गया। पर सच यही है कि शरीर चले जाते हैं, आत्मा कायम रहती है। शरीर चले जाते हैं, आवाजें कायम रहती हैं। संगीत की दुनिया के मुसाफिर हम सब यही मानते हैं कि जगजीत भी हमारे करीब हैं, एक पुकार पर हाजिर हो जाते हैं हमारे पास और कह उठते हैं– 'आँखों में नमी, हँसी लबों पर, क्या हाल है, क्या दिखा रहे हो''...जब पुकारें तो मेहँदी हाजिर हो जाते हैं– 'देख तो दिल कि जाँ से उठता है, ये धुआँ कहाँ से उठता है'। आइंस्टीन ने संसार को बताया था कि ध्वनियाँ कहीं नहीं जातीं। संसार में सदा कायम रहती हैं।

भूपी हमारी उजली-केसरिया सुबहों और सुरमई-उदास शामों की एक जरूरी आवाज रहे हैं। सुबहों के माथे पर कबीर के भजन में उनका स्वर चमक बिखेर जाता है, जब वो गाते हैं– 'ना मन्दिर में, ना मस्जिद में, ना कासी-कैलास में, मोको कहाँ ढूँढे रे बन्दे, मैं तो तेरे पास रे' या फिर 'चादर हो गयी बहुत पुरानी/ अब तो सोच-समझ अभिमानी'। ये वो स्वर है जिसमें भजन भी सुहाते हैं, और बेहद रूमानी गीत भी।

भूपिन्दर सुरमई शामों में हमारे आसपास गूँजते रहे हैं– 'या गर्मियों की रात जो पुरवाइयाँ चले/ ठंडी सफेद चादरों पे जागे देर तक/ तारों को देखते रहें/ छत पर पड़े हुए'। भूपिन्दर रातों को जुगनू की तरह चमकते हैं, जब उनकी आवाज गूँजती है– 'चौदहवीं रात के इस चाँद तले'...

अमृतसर के प्रगतिशील टीचर नत्था सिंह जी का ये बेटा गिटार और वायलिन सीखता रहा। इसलिए जब जिन्दगी की राहें मुम्बई ले आयीं तो यही गिटार काम आया। बहुत कम लोग जानते हैं कि सन् 1971 में आयी फिल्म 'हरे रामा हरे कृष्णा' के गीत 'दम मारो दम' में जो शुरुआती गिटार-पीस है, वो भूपिन्दर का बजाया हुआ है। भूपिन्दर ने कितने सारे गानों में गिटार बजाया है और अफसोस कि हममें से ज्यादातर लोग इस बात से वाकिफ नहीं। कहते हैं कि 1968 में फिल्म 'अभिलाषा' के गाने 'वादियाँ मेरा दामन' में सबसे पहले भूपी ने पंचम (आर डी बर्मन) के लिए गिटार बजाया था। इसके बाद तो वो पंचम की टोली का पक्का हिस्सा बन गये। 1972 में भूपी ने शक्ति सामन्त की फिल्म 'अमरप्रेम' के गाने में गिटार बजाया– 'चिंगारी कोई भड़के'। अगले बरस और भी कमाल का गिटार आया, नासिर हुसैन की 'तीसरी मंजिल' के गाने 'चुरा लिया है तुमने' में। 'शोले' का 'मेहबूबा मेहबूबा' भी याद कर लीजिए। उनके खजाने में 'गोलमाल' के 'आने वाला पल' भी है। विदित हो कि फिल्मी गानों में 12 स्ट्रिंग गिटार को लाने वाले भूपिन्दर ही थे।

एक दिलचस्प घटना है भूपी और मदनमोहन से जुड़ी। भूपी को 12 स्ट्रिंग गिटार का एक पीस डालने और बजाने के लिए मदनमोहन ने बुलवाया। लता मंगेशकर और मोहम्मद रफी को कैफी आजमी का लिखा गाना गाना था। लाइव-रिकॉर्डिंग थी। यानी सारे साजिन्दे बजाते और गायक गाते जाते। उसी समय रिकॉर्डिंग होती। आज की तरह अलग-अलग ट्रैक नहीं थे। भूपी से दो तीन बार रीटेक हो गये। सामने लता-रफी-मदन जी। नर्वस हो गये। पर मदन जी ने डाँटा नहीं, हौसला बढ़ाया और इन्तजार किया कि भूपी जब तक सही नहीं बजाता, हम कोशिश करते रहेंगे। भूपी ने बातचीत में कहा था कि आज की तरह कोई संगीतकार होता तो साजिन्दे को निकाल बाहर करता और गाना तैयार करवा लेता। ये गाना था 'हँसते जख्म' का– 'तुम जो मिल गये हो, तो लगता है, कि जहाँ मिल गया'।

तकरीबन पौने सात मिनिट के इस गाने को तसल्ली से सुनियेगा। धीरे-धीरे चौथे मिनिट से आगे द्रुत आने दीजिए, जहाँ गीत में बारिश तेज होती है। और गिटार की तरंगों को अपने लहू में घुलते रहने दीजिएगा। फिर कभी मौका मिले तो किसी गिटारिस्ट से पूछिएगा कि इस पीस का क्या मर्म है, क्या है ये! वो कहेगा, कुछ नहीं है, बस 'जादू' है। भूपी 'जादू' थे। अपनी आवाज में और अपने साज में।

कम लोग जानते हैं कि भूपी जी ने (मिताली के साथ मिलकर) पंजाबी के प्रिय कवि शिवकुमार बटालवी के नाटक 'लूणा' को भी गाया था। बटालवी को इस रचना के लिए साहित्य अकादेमी अवॉर्ड मिला था। कविता और संगीत के दीवानों के लिए ये एक रोशनी है। फिल्म-जगत तो छोड़िए, संगीत के कई दीवाने भी इस अलबम से वाकिफ नहीं हैं।

भूपिन्दर की आवाज में एक अजीब-सा वीतराग नजर आता है, जैसे वो दुनिया में हैं तो पर वैसे, जैसे पत्थर ऊपर पानी। उनकी पेशेवर जिन्दगी देखें तो भी यही नजर आता है, फिल्म-संसार में वो थे भी और नहीं भी। जिस वक्त वो आये कितना मुश्किल वक्त था, इतने सारे सूरज चमक रहे थे, रफी, किशोर, मुकेश, मन्ना डे, तलत महमूद जैसे। उनके बीच एक नया-छोटा-सा तारा आकर पुकारता है– 'एक-एक हर्फ जबीं पर उभर आया होगा' (हकीकत) या 'रुत जवाँ-जवाँ, रात मेहरबाँ' (आखिरी खत)।

भूपिन्दर सिंह की नेजल-टोन वाली नर्म आवाज उनका 'असेट' भी थी और यही उनका 'सेट-बैक' भी। फिल्म-संसार में उन गायकों को ज्यादा मौके नहीं मिलते, जिनकी आवाज किसी हीरो को 'मैच' न करे। भूपी कभी संजीव कुमार, कभी धर्मेन्द्र, कभी अमोल पालेकर की आवाज बनते रहे, पर मुख्य-धारा के किसी कद्दावर हीरो का चेहरा उनकी आवाज पर चिपक न सका। और मेरा मानना है कि इस एक बात ने भूपी को 'स्टीरियोटाइप' होने से बचा लिया कि वो अपनी शर्तों पर जीते रहे।

भूपी उन लोगों की खासा करीब आवाज रहे हैं जिन्होंने संसार के तयशुदा नियमों को तोड़ा, जिन्होंने लीक पर चलना कभी गवारा नहीं किया। भूपी का अपनी आवाज को जब मर्जी खींचना, जब मर्जी अल्फाज को हवा में टाँग देना, फिर उठाना और आगे चल देना... पहले हैरान करता था, फिर लुभाने लगा, और अब उसकी आदत पड़ गयी है। शायद इसीलिए वो तमाम 'एक्सपेरीमेंटल' लोगों से जुड़े। फिर चाहे गुलजार हों, पंचम हों या मदनमोहन और जयदेव। उनकी प्रयोगधर्मिता का बड़े पैमाने पर आकलन किया जाना शायद अभी बाकी है। भूपी गिटार की तरंगें लेकर गजलों की दुनिया में आये। इससे पहले की गजलों की दुनिया में हारमोनियम और तबला था, और थी शास्त्रीयता की हिमायत। सत्तर के दशक के अखीर तक भूपी स्पेनिश गिटार, ड्रम्स और पियानो के साथ गजल को एक नया चेहरा

दे चुके थे। अस्सी के दशक तक फिल्मों और संगीत की दुनिया किस तरह बदल रही थी, इससे हम वाकिफ हैं। भूपी और जगजीत से पहले गजलों की दुनिया कुछ और थी, उनके आने के बाद गजल गायकी का नया व्याकरण रचा गया। याद रहे कि भूपी, जगजीत से पहले आये। उनके शुरुआती अलबम 'भूपिन्दर विद लव' को खोजिए और सुनिए– 'पड़ रहा है कदम-कदम तन्हा', 'काश एक बार ऐसा हो जाए'।

इन सबके बावजूद इस बात का जिक्र कम रहा है कि भूपी शास्त्रीयता की राह के पक्के मुसाफिर भी हैं। 'बीती ना बिताई रैना' (परिचय), 'मीठे बोल बोले पायलिया' (किनारा), 'आई ऋतु सावन की' (आलाप), 'सैयाँ बिना घर सूना' (आँगन की कली) जैसे गानों में भूपी कठिन डगर पर कितनी सहजता से कदम रखते बढ़ निकलते हैं।

भूपी इस बेरहम दुनिया में हताशा की आवाज भी रहे हैं। 'तेरे जहान में ऐसा नहीं कि प्यार न हो/ जहाँ उम्मीद हो इसकी वहाँ नहीं मिलता' (आहिस्ता-आहिस्ता)। वो गाते हैं– 'अहले दिल यूँ भी निभा लेते हैं/ दर्द सीने में छिपा लेते हैं' (दर्द)। भूपिन्दर आँखों को छलका देते हैं जब उनकी आवाज में गूँजता है सन् 1984 में आयी फिल्म 'सारांश' का गाना- 'अँधियारा गहराया, सूनापन घिर आया/ घबराया मन मेरा/ चरणों में आया/ क्यों हो तुम यूँ गुमसुम/ किरणों को आने दे/ पत्थर की आँखों से करुणा को झरने दो'। भूपी घनघोर रात में हमारी धुआँ-धुआँ आँखों को देख हमारा हाथ पकड़कर कहते हैं– 'चाँद की बिन्दी वाली, बिन्दी वाली रतियाँ/ जागी हुई अँखियों में रात ना आई रैना' (परिचय)।

जिन्दगी में मुड़कर देखने के कई मौके आते हैं। हम सोचते हैं काश! ऐसा नहीं होता, कुछ वैसा होता। हम बदल देते समय के प्रवाह को। भूपी की आवाज गूँजती है– 'जब कभी मुड़कर देखता हूँ मैं/ तुम भी कुछ अजनबी-सी लगती हो/ मैं भी कुछ अजनबी सा लगता हूँ' (हिप-हिप हुर्रे)। भूपी तरह-तरह से हमारे जीवन में दाखिल होते हैं– 'जिन्दगी सिगरेट का धुआँ/ ये धुआँ जाता है कहाँ/ या कहीं जाता नहीं' (फासला)। भूपी जिन्दगी के लिए एक तमन्ना करते हैं– 'जिन्दगी फूलों की नहीं/ फूलों की तरह महकी रहे' (गृह-प्रवेश)।

बारिश का ये मौसम भूपी का खास मौसम है। अचानक दिल धक-से रह जाता है कि हमारी इस सबसे प्रिय आवाज वाला शख्स इन बारिशों में ही हमसे रूठ गया। भूपी की गाढ़ी आवाज में गूँजती है ये लाइन– 'बैरन बिजुरी चमकन लागी, बदरी ताना मारे रे/ ऐसे में कोई जाए पिया... तू रूठो क्यों जाए रे/ आई ऋतु सावन की' (आलाप)। अलबम 'चाँद परोसा है'

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

पन्द्रह मिनिट पीछे
कविता-संकलन

महेन्द्र गगन
मूल्य 200 रु.

महेन्द्र एक ऐसे कवि हैं जो धरती की समझ विकसित करते हुए दार्शनिक तथा आध्यात्मिक आकाश तक पहुँचते हैं और इस यात्रा में पाते हैं जीवन-रस में पगी कुछ कविताएँ, जहाँ प्रेम भी है, घर-परिवार भी है, सामाजिक संवेदनाएँ भी हैं और हैं मित्रों के साथ बिताये कुछ उन्मुक्त क्षण।

–संतोष चौबे

से गुलजार साहब के बोल गूँजते हैं– 'याद है बारिशों के दिन पंचम' ...और आखिरी लाइन आती है– 'मैं अकेला हूँ धुन्ध में पंचम'। नहीं सुना हो तो ये कम्पोजीशन सुनकर खुद को घुला दीजिए बारिशों में। भूपी हर बारिश में जैसे आग लगा जाते हैं दिल में... 'बरसता भीगता मौसम धुआँ-धुआँ होगा, पिघलती शम्मों पे दिल का मेरे गुमाँ होगा, हथेलियों की हिना याद कुछ दिलायेगी' (बाजार)। अल्फाज, अल्फाज ही रहते हैं, भूपी जी की आवाज मिलती तो वो चमकते तारे बन जाते हैं। भूपी सावन के इस मौसम में गाते हैं– 'बिरहा जिया तड़पाये/ दूरी सही ना जाए सजनिया आन मिलो' (भूमिका)।

भूपी बहुत गहन उदासियों से बहुत गहन प्रेम की तरफ बहता झरना हैं। 'पिया तुझ आशना हूँ मैं... तू बेगाना ना कर मुझको' (निशान्त, शायर कुली कुतुब शाह)। यही भूपी गाते हैं– 'बादलों से काट-काट के/ कागजों पे नाम जोड़ना/ ये मुझे क्या हो गया' (सत्या)। भूपी 2009 में मधुर भंडारकर की फिल्म 'ट्रैफिक सिग्नल' में गाते हैं– 'ना जिस दिन तेरी मेरी बात होती है/ ना दिन गुजरता है ना रात होती है'। भूपिन्दर हमेशा मुख्यधारा की चमकीली फिल्मों से इतर जिन्दगी की कच्ची और सच्ची राहों वाली फिल्मों में अपनी तान छेड़ते सुनायी पड़ते हैं।

हमारे भूपी गुलजार साहब को जब-जब गाते हैं तो यूँ लगता है दुनिया वाकई रहने लायक है। तभी तो नसरीन मुन्नी कबीर की पुस्तक 'जिया जले' में भूपिन्दर सिंह के बारे में गुलजार कहते हैं– ''भूपी जानते हैं कि गजल कैसे खूबसूरती से गायी जाती है। वो सूफियाना तबीयत के इंसान हैं, और शायरी का उनका चुनाव भी आला दर्जे का होता है। वो जानते हैं कि उनकी आवाज मुझ पर क्या असर करती है।''

भूपी आते हैं अपने आबो-ताब के साथ ये कहने– 'कोसा-कोसा लगता है.../ तेरा भरोसा लगता है..../ रात में अपनी थाली में/ चाँद परोसा लगता है' (चाँद परोसा है)। 'मुझको भी तरकीब सिखा कोई यार/ मेरे यार जुलाहे'। 'यार' पर उनकी वो तान। उफ...! इस नज्म को विशाल भारद्वाज ने भी कम्पोज किया है अलबम 'बूढ़े पहाड़ों पर' में और सुरेश वाडकर से गवाया है। वो रचना कम नहीं है पर यहाँ भूपी जी की पुकार आपसे 'अश-अश' करवाती है। कितने बड़े कम्पोजर थे भूपी, इसकी मिसाल उनके तमाम अलबमों में मिलती है। खासतौर पर 'चाँद परोसा है' से 'कितनी गिरहें' सुना जाए। गुलजार साहब की खरजदार आवाज में कमेंट्री और फिर मिताली की शबनमी आवाज जो आगे चलकर शोला बन जाती है। जाने क्यों जब इसे सुनते हुए हम 'संगेमरमर में जकड़ी गयी/ उफ, कितनी तरह मैं पकड़ी गयी' तक पहुँचते हैं तो आँखों की कोरें हर बार नम कर जाती है ये नज़्म।

भूपी जी ने अगर फिल्मों में कम्पोजर बनने का सपना देखा होता तो जाने क्या तिलस्म रचते वो! पर उन्होंने जिन्दगी को अपनी तरह से जिया, जैसे कोई फकीर दुनिया की चमक को अपने चबूतरे पर बैठ देखता रहे। अपने अलबमों को कम्पोज करते हुए वो उस अनदेखे सपने की झलक दिखाते रहे। गुलजार साहब के साथ उन्होंने 'वो जो शायर था', 'चाँद परोसा है', 'अकसर', 'दिल पीर है' और 'सुरमई रात' जैसे अलबम किये। एक बदहवास जीवन में हम कितना सुनें, कितना सराहें!

गुलजार की रचनाओं को कम्पोज करने वाला भूपिन्दर का प्रयोगशील अलबम 'वो जो शायर था' वर्ष 1980 में आया था। लोग हिल गये थे। प्रयोग, जज्बात, उदास आवाज और गाढ़ी शायरी का क्या 'मैट्रिक्स' रचा था उन्होंने। इसी अलबम में उन्होंने ये नज्म क्या गायी– 'चौदहवीं रात के इस चाँद तले/ सुरमई रात में साहिल के करीब/ दूधिया जोड़े में आ जाए जो तू/ ईसा के हाथों से गिर जाए सलीब... कसम से/ बुद्ध का ध्यान भी उखड़ जाए/ तुझको बर्दाश्त ना कर पाये खुदा... कसम से'। शुक्र है यह तब आया। इस अलबम में 'इस मोड़ से जाते हैं' भी है, जिसे पंचम 1975 में फिल्म 'आँधी' के लिए पहले ही कम्पोज कर चुके थे। भूपी ने इसे दोबारा रचा।

'दिल पीर है' में भूपिन्दर केवल कम्पोजर हैं। इस अलबम में एक विदाई गीत है– 'मैया री बेटियों के काहे लगाये बूटे/ लोरियाँ छूटी तेरी लाड़े भी छूटे/ काहे पराई कर दी लाड़ली'। ये एक कम्पोजर के रूप में भूपी जी की ऊँचाई है।

'एक ही ख्वाब कई बार देखा है मैंने' (किनारा) को सुनते हुए गीतों की राह पर आगे चलें तो बारिश से भीगी रात में भूपी हौले से हमसे कहते हैं– 'रात में घोलें चाँद की मिसरी/ दिन के गम नमकीं लगते हैं/ नमकीन आँखों की नशीली बोलियाँ' (गृह-प्रवेश)।

भूपी वसन्त देव को भी गाते हैं, कैफी को भी, गुलजार को भी और नक्श को भी। भूपी सबको अपनी तरह से गाते हुए बारिश-भरी जुलाई की अठारह तारीख को हमसे कह जाते हैं– 'आज बिछड़े हैं कल का डर भी नहीं/ जिन्दगी इतनी मुख्तसर भी नहीं'। हम उसाँस भर कर रह जाते हैं। भूपी ने अलबम 'सुरमई रात' में जैसे हम सबको सदा रुलाने के लिए गाया– 'पहाड़ों पे कल शब बहुत बर्फ बरसी/बहुत बरसा पानी/ बहुत रोई अँखियाँ/तुम याद आये, बहुत याद आये'।

भूपी जी, उदासियाँ अगर मजहब हों तो आप उस मजहब के औलिया होंगे। रहेंगे आप सदा। नमन।

दस कविताएँ

बोधिसत्व

मैं पूरा कहाँ हूँ!

घर से निकल कर भी
घर में थोड़ा रह जाता हूँ!
नदी में नहाकर निकल तो आता हूँ
पर थोड़ा नदी के साथ बह जाता हूँ!

जिससे भी गले मिलता हूँ
उसमें कुछ न कुछ घुल जाता हूँ
उदास आँसुओं में थोड़ा-थोड़ा
धुल जाता हूँ!

हर पेड़ की छाया में
हर मोड़ पर थोड़ा-थोड़ा छूट जाता हूँ!

कटे पेड़ के साथ खड़ी रहती है मेरी परछाईं
पेड़ों पर अपनी छाँव छोड़ घर आता हूँ!

मैं कहाँ पूरा रह पाता हूँ!

जो तुम्हें दिखता हूँ वह आधा-अधूरा हूँ
मैं कहाँ पूरा हूँ!

करतोया

(वह पौराणिक नदी जो पार्वती के हाथों से निकली, आज बांग्लादेश में बहती है)

घोर शिव ने गहरे अन्धकार में
उदास पार्वती का हाथ पकड़ा!

स्पर्श से टूट गया अबोला नव दम्पती का!

शिव द्वारा पाणिग्रहण से कम्पित हुईं
पर्वत तनया पार्वती
उनका मन पसीज गया
भीग गये गात
भीग गया माथ
भीग गये दोनों हाथ
पाकर शिव का साथ।

पार्वती की गदोरी से छूट कर बह गयीं
पसीने की बूँदें मिल कर
नदी हो गयीं

उस अँधियारी उदासी में हाथ थामे खड़े रहे
अविचल हर
अकम्प खड़ी रहीं गौरी

स्नेह से छूना भी नदी कर देना होना है
एक पर्वत-सी स्त्री को
जल में ढाल देना होता है!

सहधर्म!

कोई पत्ता अकेला नहीं गिरता कभी
हर पत्ते के साथ
टूट-टूट कर गिरता रहता है पेड़ भी!

पत्तों का गिरना देखता है पेड़
पर पेड़ का गिरना नहीं दिखता
न पत्तों को न पंछियों को!

जब सारे पत्ते बिछुड़ जाते हैं
तब पत्रहीन पेड़
अपने पत्तों के स्मारक बन जाते हैं!

कठिन और आसान

मुझे गिराना उतना ही आसान है
जितना एक पत्ती को टहनी से गिराना।

लेकिन मुझे मिटाना उतना ही कठिन है
जितना पत्ती के मन से टहनी और हरेपन को मिटाना,
या आँसू की स्मृति से पुतली और पलकों को पोछना..!

प्रायश्चित!

छोड़ कर गयीं पत्तियों और पंछियों को
कभी क्षमा नहीं करते पेड़!

पंछी तो खोज लेते हैं दूसरा वन
तीसरा पेड़ चौथे पहर तक
और भूल जाते हैं छोड़े पेड़ को!

किन्तु पत्तियों को यह बात दुखी करती है
कि पेड़ ने उनको
टूट जाने के पहले
उड़ना और जुड़ना क्यों नहीं सिखाया!

पत्ते मानते हैं कि पंछियों को पंख
पेड़ देते हैं
उनको उड़ना और जुड़ना भी सिखाते हैं
फिर भी देखो पंछी उनको छोड़ जाते हैं!

हिसाब!

पेड़ पृथ्वी से अपनी खोई हुई पत्तियों का
हिसाब माँगने के लिए खड़े रहते हैं!

सारी बिछुड़ी पत्तियाँ मिल जाएँ तो
पेड़ खुशी-खुशी पृथ्वी छोड़ कर चले जाएँ।

अगले बसन्त में पिछले पतझड़ की उधारी
पेड़ों को कहीं और जाने से रोकती है
अपने पत्ते लेकर ही जाओ
पृथ्वी उनको टोकती है!

पत्तियों को याद कर गिनने में
घिस जाती हैं डालें
उतर जाती हैं छालें।

पृथ्वी रखती है उतरी छालों का हिसाब
कि कभी भी वापस माँग सकते हैं पेड़
पत्तियों के साथ!

ऐसे ही!

मछलियों और चिड़ियों के भटकने का
कोई एक रास्ता नहीं होता!
मछलियाँ पानी से और चिड़ियाँ हवा से
एक ही जैसी शत्रुता नहीं करती!
हर मछली पेड़ों पर घोंसले बनाने का सपना देखती,
तैरती रहती है अन्तिम साँस तक
और पंछी केवल बूँदों को चुग कर
लौट आते हैं पेड़ तक!

ऐसे ही बूँदों के झरने का एक ही तरीका नहीं होता
ऐसे ही फूलों के खिलने और मुरझाने का
एक ही ढंग नहीं होता।

वे बड़े क्रूर होते हैं
जो दुनिया को एक ही तरह के फूलों से भर देना चाहते हैं!

ऐसे ही कविता एक ही तरह से नहीं खिलती
शब्दों के बँधने का एक ही तरीका नहीं होता
ऐसे ही प्रेम होने और खोने का एक ही ढंग नहीं होता!

ऐसे ही याद रखने और
भूल जाने की नीति एक ही नहीं होती!

जो प्यार करते हैं वे ही क्षमा करते हैं
वे ही घाव भरने के लिए अक्सर मात्रा से थोड़ा अधिक
लगा देते हैं दवा!

लेकिन सबकुछ एक जैसा नहीं होता

वे ही रोते हैं दु:ख में
जो जानते हैं कि चन्द्रमा भले ही कम दिख रहा है,
लेकिन वह पूरा मौजूद है अँधेरे शून्य में!

लेकिन अदृश्य चन्द्रमा सबके लिए
एक जैसा ओझल उजागर नहीं होता

ऐसे ही आधा तीहा क्षोभ
पूरा-पूरा लोभ भी निष्कपट होने से बचाता है!

लेकिन सबकुछ एक जैसा नहीं होता

ऐसे ही चिड़ियाँ और मछली जाल में आती हैं!
लेकिन एक जैसे नहीं होता फँसना और उलझना
और निकल जाना!

अक्सर

अक्सर
मुझे लगता है
जो हारा हुआ आदमी है
वह मैं ही हूँ
वह जो भीड़ के बाहर कहीं छूट कर
भटक गया है
वह थका आदमी मैं ही हूँ
वह जिसे एक निर्दय भीड़ पीट रही है
वह मारा जा रहा आदमी मैं ही हूँ।

वह स्त्री जिसे उसके ही आँगन में
जीवित जलाया जा रहा है वह भी मैं ही हूँ

❑ पड़ताल

जीवन व समाज का संश्लिष्ट प्रमेय

जितेन्द्र श्रीवास्तव

नवें दशक के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कविता के फलक पर आये और छाये कवि बोधिसत्व के कई संग्रह प्रकाशित हैं। वे हिन्दी के एक ऐसे कवि हैं जिनकी कविताओं के बिना इधर की कविता का वृत्त पूरा नहीं होता। वे राजनीति कवि, सामाजिक कवि, सांस्कृतिक कवि आदि खानों में विभाजित न होकर एक ऐसे कवि की छवि निर्मित करते हैं जिसके वृहत्तर सरोकार में ये सब शामिल हैं। 'वनमाली कथा' के इस अंक में प्रकाशित बोधिसत्व की कविताएँ उनकी पूर्वनिर्मित छवि को मजबूती तो प्रदान करती ही हैं, साथ ही उसको नयी आभा भी देती हैं।

जो 'पूरे' के महत्त्व को जानता है वही 'अधूरेपन के सौन्दर्य' को भी पहचानता है। जो 'अधूरा' है, वही 'पूरा मनुष्य' है। लालसाएँ सिर्फ पतन की ओर नहीं, औदात्य की ओर भी ले जाती हैं। जो अपने अधूरेपन की सार्थक पहचान कर लेता है, वह कभी स्मृतिहीन और कर्तव्यविमुख नहीं होता। वह मनुष्यता का गायक बन जाता है। बोधिसत्व अपनी कविता 'मैं पूरा कहाँ हूँ' में मनुष्य-भाव के इसी पक्ष का सन्धान करते हैं। वे कहते हैं–

घर से निकल कर भी / घर में थोड़ा रह जाता हूँ! / नदी में नहाकर निकल तो आता हूँ / पर थोड़ा नदी के साथ बह जाता हूँ! / ...जो तुम्हें दिखता हूँ वह आधा अधूरा हूँ / मैं पूरा कहाँ हूँ!

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'पूरा' होने की तृष्णा 'मनुष्य' होने की लालसा से विरत होना है। हर अच्छा कवि अपने और अपने पाठक के भीतर 'मनुष्य' होने और बने रहने की लालसा को ही जन्म देता है। बोधिसत्व भी यही करते हैं। एक दृष्टिसम्पन्न जिम्मेदार कवि होने के कारण वे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना को बहुस्तरीय ढंग से अभिव्यक्त कर लेते हैं। इन पंक्तियों की अर्थगर्भिता देखिए–

एक घर के गिरने की आवाज एक पुल के गिरने की / आवाज से अलग होती है। / मन्दिर या राजप्रासाद की सीढ़ियों पर रोने और घर की / सीढ़ियों के नीचे छुप कर रोने में अन्तर होता है बहुत।

यह पूरी कविता अर्थ के कई स्तरों को छूती है। 'करतोया' शीर्षक कविता एक पौराणिक नदी पर केन्द्रित है लेकिन इसकी ये पंक्तियाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को नये नजरिये से देखने के कारण सम्भव हो पाई हैं–

स्नेह से छूना भी नदी कर देना होना है
एक पर्वत-सी स्त्री को जल में ढाल देना होता है!

शर्त बस इतनी कि सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई अहमन्यता न हो। 'सहधर्म' एक छोटी किन्तु मारक क्षमता वाली कविता है। इसका प्रभाव बिल्कुल वैसा ही है जैसा कि अकम्प सहधर्म का होता है। 'प्रायश्चित' में बोधिसत्व ने जीवन के एक व्यावहारिक पाठ को काव्य-विषय बनाया है। इसकी अन्तिम पंक्तियों में इसका सार है–

पत्ते मानते हैं कि पंछियों को पंख / पेड़ देते हैं / उनको उड़ना और जुड़ना भी सिखाते हैं / फिर भी देखो पंछी उनको छोड़ जाते हैं!

यह कवि अपनी कविता 'अक्सर' में जीवन का संश्लिष्ट प्रमेय लेकर आता है। उसे लगता है–

हर रोती आँख मेरी है / हर जलता घर मेरा है।

अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह इस बोध तक पहुँचता है–

अक्सर मुझे लगता है / और मैं वेदना, व्यथा से घिर जाता हूँ / और अनेक बार अपनी ही दृष्टि में / गिर जाता हूँ!

अलग से कहने की जरूरत नहीं कि पारदर्शी नैतिकता की जरूरत होती है और समाज में यह दिनों-दिन कम होती गयी है। बोधिसत्व अपनी एक कविता में गिराने और मिटाने के फर्क को बड़ी बारीकी से अभिव्यक्त करते हैं। इस कविता की अभिप्राय-सम्पन्नता आकर्षित करती है–

मुझे गिराना उतना ही आसान है / जितना एक पत्ती को टहनी से गिराना / लेकिन मुझे मिटाना उतना ही कठिन है/ जितना पत्ती के मन से टहनी और हरेपन को मिटाना।

इतना ही नहीं, यह कवि सच को इस तरह भी कहता है–

ऐसा कई बार हुआ / जब सारी रोशनियाँ राख हो गयीं / गहरे अँधेरों ने चलना सिखाया।

बोधिसत्व जानते हैं कि 'जो प्यार करते हैं वे ही क्षमा करते हैं' इसलिए उनकी कविताओं में भावात्मक और वैचारिक आर्द्रता बनी और बची रहती है। और इसीलिए उनकी कविताएँ एक बड़े पाठक वर्ग को जोड़ती और बाँधती हैं।

मो. 9818913798

वह लड़की जिसके शव को
तेल छिड़क कर
रात की चिता में सुलगाया जा रहा है
वह मैं ही हूँ!

हर रुलाई मेरी है, मेरी है हर चीख
हर टूटी पसली कटा हुआ शीश
पीठ पर रस्सी से बँधे हाथ
हर झुकाया हुआ लज्जित माथ
मेरा ही है!

हर रोती आँख मेरी है
हर जलता घर मेरा है।

अक्सर मुझे लगता है
घोंसला बनाती चिड़िया
और खूँटे पर बँधी व्यथित गाय मैं ही हूँ!

अक्सर मुझे लगता है
और मैं वेदना, व्यथा से घिर जाता हूँ
और अनेक बार अपनी ही दृष्टि में
गिर जाता हूँ!

मुक्ति नहीं

बोलता हूँ सम्हाल कर
तो भी अर्थ खुल जाते हैं
लिखता हूँ सावधानी से
तो भी अर्थ बदल जाते हैं
नहीं बोलता हूँ
तो भी अर्थ निकल जाते हैं।

मुँह फेर कर मूँद लेता हूँ आँखें
तो भी बोलते हैं हाव-भाव
नहीं चलता है भाषा पर
कोई खेल कोई दाव
कथन का अर्थ छुपाने की
कोई युक्ति नहीं
बात कहे बिना
कभी कोई मुक्ति नहीं!

राह दिखाना!

ऐसा कई बार हुआ
जब सारी रोशनियाँ राख हो गयीं
गहरे अँधेरों ने चलना सिखाया!

कई पीढ़ियों के अन्धकार ने
दिशा-सूचक बनकर रास्ता दिखाया!

मार्फत आभा बोधिसत्व,
फ्लैट-3, सेक्टर-3, प्लॉट- 233, स्वातन्त्र्य वीर सावरकर मार्ग,
चारकोप, कान्दीवली (पश्चिम)
मुम्बई-400067
मो. 9820212573

कथेतर

...तब मुझे ख्याल आया कि संघर्ष कितना ही लम्बा और कष्टप्रद रहा हो, उससे एक निरपेक्ष दूरी बनाये बगैर वह आपके जीवन के मूल तन्त्र को सिरे से दिशाहीन और निरर्थ कर सकता है...

चलते-फिरते जीवन से चुपचाप

ओमा शर्मा

मच्छर-प्रकरण

मेरा एक पुराना सहकर्मी-मित्र, त्रिपुरी, अपने आप में खूब दिलचस्प और खुशमिजाज चरित्र है। हर बात के साथ उसका अपना कोई निजी अनुभव या कुछ मिलता-जुलता-सा तैयार रहता है जो उससे मेल-मुलाकात को जीवन्त कर देता है। खुद तो कम ही है, लेकिन दूसरों से इसरार करके गाना गवाने में भी वह बहुत सफल रहता है। उसकी पत्नी भी उसकी तरह ही मिलनसार कोई चाहे तो कह ले कि जिन्दगी को खालिस तरह से केवल स्वस्थ आनन्द के सहारे और

एक-दूसरे के लिए, जीने का भरपूर नुस्खा उनके हाथ है। ऐसे आदमी के दोस्त लोग भी खूब हो जाते हैं क्योंकि शाम को घर आने के बाद मन में सामाजिक मेल-मिलाप की तलब रहती है। पढ़ने का कोई शौक नहीं और टीवी भी कौन देखे! यारों का यार!

कुछ रोज पहले पति-पत्नी दोनों एक बार हमारे नये घर आये। मैंने या पत्नी ने कह दिया होगा कि बाकी सब तो इधर ठीक है लेकिन मच्छरों की समस्या है, इसलिए जालियाँ लगवानी पड़ी हैं, फिर भी मच्छर कहीं न कहीं से घुस ही जाते हैं, कितने ही मार लो, कम नहीं होते...

''आप मच्छरों को मार देते हो?'' उसने हैरतन पूछा।

''हाँ, रैकेट भी ले रखा है।'' मैंने अपनी हताशा जारी रखी।

''नहीं, आप मारा नहीं करो।''

''अरे, काट-काटकर बुरा हाल कर देते हैं और आप कहते हो...''

''वही तो मैं कह रहा हूँ।''

''नहीं मारें तो क्या करें?'' मैंने समाधान हेतु प्रतिप्रश्न किया।

''अच्छा एक बात बताओ... आप कब से मार रहे हो उन्हें?'' उसने धैर्य से पूछा। सवाल बड़ा मतलबपरक था।

''जब से समस्या हुई है, यानी कोई छह महीने से... जब से हम इस नये घर में आकर रहने लगे हैं।'' मैंने सफाई दी।

''कोई फर्क पड़ा है?'' उसने ठहरकर, इरादतन पूछा।

''फर्क तो कोई नहीं पड़ा।'' मैंने मुँह बिचकाते हुए स्वीकारा। कहने से पहले मैंने सोचा भी कि मैंने मामले की कभी इस तरह समीक्षा तो नहीं की है।

''वही तो... पड़ेगा भी नहीं।'' उसकी बात में किसी सत्य का सुराग हाथ लगने का गुमान था।

''अच्छा जी! तो इसका भी कोई कारण है?'' मैने जरा तंज से जिज्ञासा जाहिर की, लेकिन अगले कुछ मिनट उसने जो बताया वह मुझे अजीब तरह चौंकाने वाली बात लगी। लगभग एकालाप में उसने अपने अनुभव-विज्ञान को साझा कर दिया– ''मेरे घर में, माने अभी तक जहाँ-जहाँ भी रहा हूँ और तीस बरस में पाँच-सात जगह तो रहा ही हूँ, कभी कोई जाली नहीं लगी... बच्चे जब छोटे थे, तब भी नहीं। लेकिन मेरे घर में कभी किसी मच्छर ने नहीं काटा। ऐसा नहीं कि मच्छर आते नहीं हैं। आते हैं, मगर काटते नहीं हैं... वो इसलिए कि मेरी उनके साथ पूरी अंडरस्टैंडिंग है... मैं मन ही मन उनसे तालमेल कर लेता हूँ– अपना समर्पण करते हुए। और वे यह बात जान लेते हैं। दरअसल मच्छरों की अपनी दुनिया होती है, उनका भी सरदार होता है, सप्लाई चेन होती है... आप जितने मारोगे, उनमें और आ जाएँगे, आते ही हैं (मैंने हामी में सिर हिलाया)। लेकिन आप उनसे तालमेल बिठा लो, यदि बिठा सकते हो तो, तो वे कुछ नहीं करते... उनके कुनबे तक को खबर हो जाती है कि इस घर में नहीं काटना है। मैं इसे खूब करता हूँ– आपको यकीन न हो तो मेरी वाइफ से पूछ लो।''

सामने बैठी पत्नी जी ने पूरी सहमति से हामी भरी।

त्रिपुरी के खुलासे के जादू को मुझे अभी भी जानना बचा है।

अरसा पहले आर्थर कोस्टलर की परा-मनोविज्ञान पर 'द रूटस ऑफ कोइंसीडेंस' पढ़ी थी जिसमें उसने ईएसपी, यानी 'एक्स्ट्रा सेंसरी पर्सेप्शन' की बात सलीके से उठायी थी। 'छठी इन्द्री' और 'टेलीपैथी' तो कमोबेश हर समय-समाज में वायवीय से जरा आगे की अवधारणाओं के रूप में सदा से उपस्थित रहती आयी हैं। 'सम्मोहन' को बतौर उपचार, नीम-हकीम तो छोड़िए, फ्रायड तक ने सफलता से उपयोग में लिया। क्या त्रिपुरी एक तरह से उसी टेली-हिपनोसिस की बात नहीं कर रहा है? अपनी जग-प्रसिद्ध आत्मकथा में परमहंस योगानन्द ऐसे कई देखे अनुभवों की बात करते हैं जो उनके गुरु-सन्त कर डालते थे... सोच के स्तर पर अदृश्य और अनागत को न केवल देखना बल्कि उसे यथा संचालित भी कर देना, जो सामान्य लोगों के लिए करिश्मे होते हैं! यह ठीक है कि यह सब पुनरावृत्ति के परे होता है (इसीलिए सन्दिग्ध भी) और पात्रता भी साधना से आती होगी, लेकिन जैसा इसाक सिंगर भूत-प्रेतों के बारे में कहता रहा, कि तर्कातीत होने-मात्र से किसी के होने को तो इंकार नहीं किया जा सकता है!

कभी बेतुकी लगती बातें शायद उतनी बेतुकी न होती हों– वे केवल हमारे अभी तक के ज्ञान और अनुभव से परे होती हैं।

बस कैसे छूटती है...

गुजरात के दिनों की पुरानी बात है। एक सहकर्मी-दोस्त और पड़ोसी नरेन्द्र अपने परिवार के साथ पश्चिम गुजरात के पर्यटक बिन्दुओं– सोमनाथ-द्वारिका मन्दिर, जूनागढ़ का किला और अभ्यारण्य तथा दीव आदि को देखने गया था। जब वह वापस आया तो मैंने सहज ही पूछ लिया कि यात्रा कैसी रही, अनुभव कैसा रहा...

''ऐसा था हम लोग अहमदाबाद से नाश्ता करके निकले, दोपहर के खाने के वक्त सोमनाथ जा पहुँचे, शाम की आरती भी कर ली। अगले दिन सोमनाथ में नाश्ता किया और लंच के वक्त द्वारिका... डिनर हमने... वहाँ किया...''

यानी उसके जेहन में न कहीं सोमनाथ के तटीय सौन्दर्य की

जगह थी, न उस मन्दिर के स्थापत्य या उस संस्कृति का बोध जो सैकड़ों लोगों को सदियों से उस मन्दिर की तरफ लुभाता है। 'द्वारिका में भीड़ बहुत थी...' जैसा भी कुछ आया था लेकिन मुख्य बात जो इस रिपोर्टिंग में झलकती रही वह ये कि कब, किस जगह पेट-पूजा की गयी।

चीजों को उनके सहज सौन्दर्य या इतिहास के बरक्स देखने की उम्मीद रखना ही नाजायज हो जाता, इसलिए मैंने उसके जोश और नादानी पर जरा भी एतराज नहीं किया। भीतर ही भीतर सोचता अवश्य रहा कि क्या चीजों को ऐसे भी देखा जा सकता है?

बरसों पुराना यह किस्सा आज कैसे याद आया?

इसका कारण है कल मेरे एक मित्र की दिल्ली विश्वविद्यालय में चालीस बरस अध्यापन के बाद (वहाँ सेवानिवृत्ति की उम्र 65 बरस है) सेवानिवृत्ति हुई। वह वहाँ का छात्र भी रहा। यानी कोई 45 बरस से भी अधिक का उस संस्था से रिश्ता। कितने और कितनी तरह के छात्र और सहकर्मी-अध्यापक इस दरम्यान आकर चले गये होंगे। पाठ्यक्रम में भी न जाने क्या-क्या तब्दीलियाँ आ चुकी होंगी, पुस्तक और पठन-पाठन संस्कृति इसी बीच कितने भयावह ढंग से बदल चुकी है, इसे लेकर किसी भी अध्यापक की वाजिब चिन्ताएँ कुनमुनाती तो होंगी, पीछे मुड़कर देखने का मन रहता होगा।

लेकिन मैंने कल जब उससे पूछा कि 'कैसा लग रहा है जब इतना लम्बा अध्यापकीय जीवन अपने मकाम पर जा लगा है?' तब मैंने देखा कि मेरी इन अपेक्षित चिन्ताओं और उम्मीदों का उसे दूर-दूर तक गुमान नहीं था।

''ऐसा था कि मैंने स्टाफ वालों को ग्यारह हजार दिये कि वे लोग आपस में मिलकर कुछ खा-पी लें, अपने इग्नू और एनसीसी वालों के लिए मैंने बेड-सीट्स भेंट दीं (थोक में काफी रीजनेबल मिल गयीं), कॉलिज के भीतर जो बैंक की ब्रांच है उसमें पाँच लोग काम करते हैं– उन सबको भी बेड-सीट्स दीं, सिक्योरिटी गार्ड्स को दीं क्योंकि उन लोगों को अक्सर कोई कुछ नहीं देता है। मेरा तो मन था कि सबको खाने के पैकेट बँटवा दूँ लेकिन कोरोना की वजह से जाने दिया...''

नरेन्द्र की तरह मेरा यह मित्र भी, चालीस बरस के अध्यापकीय जीवन– उसकी स्मृति, अनुभव और उपलब्धियों-सम्भावनाओं को खुलेआम धता बताकर, खाने-पीने और दिये गये तक रिड्यूस करके खुश था।

यह अचानक नहीं होता है।

जो चीजें हमारी सोच और प्राथमिकता में रहती हैं, वही तो जाहिर होती हैं। जो मौजूद नहीं होती हैं, जाहिर कैसे होंगी?

अलबत्ता मित्र नरेन्द्र की तरह वह आदमी तो अच्छा है।

शायद त्रासदी की जड़ भी यहीं है।

तलछट में डूबा जीवन

बच्चों और स्त्रियों के कपड़ों से भरी वह दुकान व्यस्त बाजार के बीचोंबीच थी। तरह-तरह के ग्राहक आ-जा रहे थे। भीड़-भड़क्का-सा मचा था। तीनों दीवारों पर तरह-तरह के रंगीन कपड़े और आधुनिक फैशनेबल पोशाकें करीने से सजी थीं। सामने पड़ी मेज के पीछे धैर्य साधे सेल्समैन मुस्तैद थे। एक कोने में पैसों के लेन-देन को सँभालता एक अधेड़ था जो अपने रौब-रुतबे में उस जगह और उस धन्धे का मालिक होने का गुमान दे रहा था।

हमें कुछ पूछताछ करनी थी तो 'गल्ले' पर दूसरा व्यक्ति बिठा दिया गया।

इस दरम्यान ग्राहकी कमोबेश निर्विघ्न चलती रही।

दुकान में इकलौते प्रवेश और निकास के बाजू में एक सज्जन बैठे थे। स्टूल पर। उम्र के चौथे पड़ाव में। अस्सी छू रहे होंगे, जैसा उनकी स्वत: झूलती मुंडी संकेत कर रही थी। मैंने पूछा, ''ये जनाब कौन?'' तो बताया गया कि यही इस दुकान के मालिक हैं। लड़का यानी उनका बेटा गल्ला सँभालता है और ये यहाँ? इस 'ये-यहाँ' का कोई जवाब है तो यही कि ये रोज लड़के के साथ सुबह ही आ जाते हैं और अपने स्टूल पर विराजे रहते हैं।

''इस गर्मी में, क्यों?''

गर्मी वाकई अच्छी-खासी चल रही थी। तापमान 45 डिग्री को छू रहा था।

उनके हाथ में एक देशी गमछा था जिससे वे जब-तब अपना पसीना पोंछ लिया करते।

''आप यहाँ इतनी गर्मी में क्यों बैठे हैं, दादाजी?'' मैंने किसी बच्चे की जिज्ञासा से हल्के-फुल्के स्वर में उनकी तरफ ठेला। इतना काफी था, उनके मन की तह को समझने के लिए।

''आपको पता है, यह कितना भीड़-भरा बाजार है। हमारी यह दुकान... मैंने इसे सन् पचपन में लिया था... हम लोग पाकिस्तान से भागकर आये थे... धीरे-धीरे धन्धा शुरू किया। पहले तो मैं एक सेठ के यहाँ नौकरी ही करता था। शादी हो चुकी थी, बच्चे बड़े हो रहे थे, कर्जे की समस्या थी, फिर भी लिया... पहले यही दुकान ली, बाद में क्लोथ मार्किट में भी ले ली, फिर एक और। हाँ, तो मैं क्या कह रहा था... यहाँ पब्लिक बहुत आती है। कटपीस का भी काम है... लेडीज का सामान। लेडीज को आप जानते हो... दस चीजें निकलवाती हैं, लेती हैं

उसके जेहन में न कहीं सोमनाथ के तटीय सौन्दर्य की जगह थी, न उस मन्दिर के स्थापत्य या उस संस्कृति का बोध जो सैकड़ों लोगों को सदियों से उस मन्दिर की तरफ लुभाता है। 'द्वारिका में भीड़ बहुत थी...' जैसा भी कुछ आया था लेकिन मुख्य बात जो इस रिपोर्टिंग में झलकती रही वह ये कि कब, किस जगह पेट-पूजा की गयी।

एक-दो, कभी वह भी नहीं... सेल्समैन की नजर इधर-उधर हुई नहीं कि... कभी कोई दुपट्टा, कभी ब्लाउज अपने खीसे में (सीधे हाथ से इशारा करते हुए) दबा लेती हैं... मैंने देखा है, पकड़ा है... मैं यहाँ बैठकर यही देखता हूँ। मैंने जीवन में बहुत मुश्किलें झेली हैं। मेरा बेटा कहता रहता है कि वह सँभाल लेगा, मैं यहाँ नहीं बैठा करूँ। लेकिन क्या करूँ? आज भी देखता हूँ, कुछ न कुछ गड़बड़ दिख जाती है...।''

वे पूरे मनोवेग से और संलग्नता से बताते जा रहे थे।

तब मुझे ख्याल आया कि संघर्ष कितना ही लम्बा और कष्टप्रद रहा हो, उससे एक निरपेक्ष दूरी बनाये बगैर वह आपके जीवन के मूल तन्त्र को सिरे से दिशाहीन और निरर्थ कर सकता है।

ग्रीफ काउंसलिंग

नाम पर बाद में। पहले सन्दर्भ।

कोरोना की पहली और दूसरी लहर ने घर-घर में अपनी दस्तक दे रखी थी। जहाँ तीन करोड़ लोग इसकी चपेट आ चुके हो वहाँ 'कौन नहीं आया' जैसा सवाल बेमानी। मैं खुद हुआ और दफ्तर में मेरे गिर्द कार्यरत दूसरे सभी हुए। करीबी मित्रों में कई हुए। यह प्रभावितों के साथ घटने वाला अभूतपूर्व हादसा था क्योंकि घर का कोई सदस्य आपके आसपास नहीं फटक सकता था। सिरदर्द हो तो मालिश नहीं हो सकती थी। दवाएँ खुद लेनी होतीं। तापमान और आक्सीजन लेबल खुद नापने होते। निजी बेचैनी और तड़प भी उग्र हो जाती जब दुनिया-जहान की एक-से-एक भयावह खबरें सुनने को मिलतीं। उन दिनों मैं नियम से– हर रोज न सही मगर नियमित रूप से– अपने संक्रमित मित्रों को फोन करता, इधर-उधर की देर तक गप्पें करता... यह महसूस करते हुए कि वे किसी बन्द कमरे में अजीब असामाजिकता से जूझ रहे होंगे, बीमारी के शिकंजे के चलते कमजोर और 'लो' (निराश) महसूस कर रहे होंगे। यह कार्य बड़ी सहजता से होता। मैं उनसे अपनी जिज्ञासाएँ भी साझा करता... कौन-कौन-सी दवाइयाँ खानी होती हैं, क्या-क्या टेस्ट कब-कब कराने होते हैं, खाने-पीने की व्यवस्था (यदि घर के दूसरे सदस्य भी संक्रमित हैं तो) कैसे हो रही है। इस सबने न केवल तब संवाद की सहजता बनायी, बल्कि भविष्य में यह अनुभव खूब काम आया जब मेरे परिवार में भाई-भाभी दिल्ली में संक्रमित हुए। फैविफ्लू कब-कैसे ली जाती है, रेमडेसेविर किस अवस्था के बाद लेनी आवश्यक है, खून गाढ़ा होने का टेस्ट (डी-डायमर) क्यों आवश्यक है और कितने अन्तराल पर कराना है, संक्रमण यदि फेफड़ों पर असर करने लगा है– जो रिएक्टिव प्रोटीन के स्तर को देखकर पता चलता है– तो पहले सीटीस्केन कराएँ या कुछ और, किस अवस्था के बाद ऑक्सीजन या अस्पताल जरूरी हो जाते हैं। भाभी को महीने-भर से ज्यादा अस्पताल में, कुछ दिनों तो आईसीयू में भी रखना पड़ा था, इसलिए मैं उनसे और उन्हें अटेंड करते डॉक्टरों से भी बात करता। दिनों तक इसे झेलने के बाद शायद ही कोई ऐसा हो जो उससे आजिज न आ जाता हो। यह उन दिनों की बात है जब कई परिवारों में एकाधिक लोग दुनिया से चले गये, श्मशानों में दाह-संस्कार के लिए कतारें थीं, लोगों को समय से दफनाने या जलाने के लिए जुगाड़ करने पड़ रहे थे।

ऐसे में पीछे छूटे परिजनों– जिनके घर में मौत तांडव कर रही थी और जो खुद ग्रसित होने के डर से घिरे थे– की मानसिक दशा क्या हो सकती थी, कोई उन्हें क्या कह या समझा सकता था? लेकिन मैं विनम्रता से कुछ देर, कभी फोन करके या लम्बे सन्देश छोड़कर उनके दु:ख में शामिल होने की अर्जी लगा देता, भरोसा दिलाता, बोल-बतियाकर जी बहलाता।

और लो, आज किसी ने बतलाया कि मैं वस्तुत: 'ग्रीफ काउंसलिंग' कर रहा था!

भाषा और शब्दों का एक सांस्कृतिक ऑरा होता होगा तभी मुझे अपने 'दुख' के बरक्स 'ग्रीफ' सुनकर अजीब-सा झटका लगा। और फिर उसकी 'काउंसलिंग' तो सरासर उसकी प्रकृति को ही चुभती-सी लगी... शायद इसलिए भी कि हम दुख को बाँटते भी हैं। दुख कोई बीमारी नहीं, नितान्त मानवीय उपस्थिति है, सो आता-जाता है। और उसकी 'काउंसलिंग'! जाहिर गैर-बराबरी, दूर-दूरस्थ और उथलेपन का आभास देती है। मानो एक पक्ष उसमें निष्णात है (जैसे उसे तो वह छू भी नहीं पाता होगा!) और दूसरा उसका लाचार शिकार! जबकि दुख की अबोली साझेदारी में सब एक ही पायदान पर तो खड़े होते हैं।

ये शहराती प्रबन्धकीय जुमले जुबान पर कैसा जायका छोड़ते हैं!

कलाकार का चेहरा

कौन होता है कलाकार? क्या कला के सर्जक को, जब वह सृजनरत नहीं होता है या जब वह अपनी या किसी और की बाबत अभिव्यक्त नहीं कर रहा होता है, पहचाना जा सकता है? दूसरे शब्दों में क्या उसकी भाव-भंगिमा में ऐसा कुछ अतिरिक्त होता है जो उसे दूसरों से अलग करता है? मंचीय कलाकार, विशेषकर गायक अपने पहनावे आदि से 'कलाकार' होने की सूचना-सी देते रहते हैं, लेकिन यह अलग मामला है।

एक शाम हम कुछ मित्र मुम्बई पधारीं रीता गांगुली के साथ बैठे थे। बिना साजिन्दों के संगीत की महफिल थी, मगर थियेटर और कला की तमाम बातें चर्चा में शामिल थीं। रीता जी, बेगम अख्तर की शार्गिद रही थीं, इसलिए उनके पास उस दौर की बाबत कहने को बहुत कुछ था। यहाँ मैं उनका जिक्र केवल अपने इस प्रश्न के सन्दर्भ में ही कर रहा हूँ। एक अधेड़ शौकिया गायक की प्रस्तुति के बाद उन्होंने, दूसरी बातों के अलावा, उसे कहा कि उसकी आँखें एक कलाकार की आँखें हैं। जब उनसे पूछा गया कि क्या कलाकार की आँखें कुछ अलग तरह की होती हैं, तो उन्होंने बताया कि एक कलाकार की आँखों में एक अजीब किस्म की उदासी तैरती है। हम सब जब इससे सन्तुष्ट नहीं दिखे तो उन्होंने कहा कि दुनियादारी की जगमग और भागमभाग के बीच किसी व्यक्ति का किसी कला की साधना में जाना ही बताता है कि वह अपनी दुनिया से जरूर कहीं नाखुश है। इतनी होड़-तोड़, मारकाट और हर किस्म की हिंसा और शोषण के बीच आखिर कोई प्रसन्न रह भी कैसे सकता है? जो लोग उसमें शामिल होते हैं, उनके चेहरे पर एक बदहवासी तारी रहती है। कला-साधना के जरिए कुछ लोग उस सबका मूक-परोक्ष प्रतिवाद ही तो कर रहे होते हैं! दुनिया के दु:ख, अन्याय और मारकाट से अहसास के स्तर पर सताया व्यक्ति जब कला में शरण लेता है तो वह सब बाहरी दुख उसकी निजी अभिव्यक्ति में झरने लगता है, उसकी आँखों की उदासी बन कर उतरने लगता है...

रीता गांगुली इसी तरह की समझाइश कर रही थीं जो विचार के तौर पर तब मुझे बड़ा मर्मभेदी लगा।

लेकिन अभी मैं वैन गॉग के पत्र पढ़ रहा था जो उसने अपने छोटे भाई थियो को लिखे। वैन गॉग एक जगह दर्ज करते हैं कि एक कलाकार के चेहरे पर जीवन के प्रति एक उल्लास रहता है– या रहना चाहिए। वैन गॉग का अपना जीवन जबकि गरीबी और संघर्ष की अभूतपूर्व दास्तान है। सैंतीस वर्ष की अल्पायु में इस दुनिया को अलविदा कहने वाले इस जीनियस उस्ताद की उसके जीवन काल में मात्र एक चित्रकारी बिकी थी– वह भी किसी मित्र के जरिए। हर पत्र में वह थियो से आर्थिक मदद की गुहार करता है, दूसरी तमाम परेशानियाँ साझा करता है, मगर बतौर एक कलाकार वह जीवन के प्रति भरपूर एकाग्र और उर्जस्वित रहता है। उसका कहना है कि एक कलाकार ही है जो जीवन की तमाम क्षुद्रताओं से परे जाकर, अपने सृजन में एकाग्र होकर आत्मिक सुख की अनुभूति करता है... इसलिए उसके चेहरे में भी उस 'तृप्ति' का आलोक उतर आता है। दुख की स्थितियों का सृजन भी उसे तृप्ति देता जाता है जिसका यह कतई तात्पर्य नहीं कि वह उस दु:ख से असंपृक्त या तटस्थ है। मनुष्य के स्तर पर महसूस किया दुख सर्जक के स्तर पर तृप्ति देता है। यही कला का रहस्य है।

सवाल वैसे जटिल है, लेकिन देखने के नजरिये अपनी जगह अहम है।

वैसे, कला की बुनियाद में नजर का विस्तार ही तो है।

गरीबों का इलाज

कल अपनी आँखों के ग्लुकोमा की नियमित सार-सँभाल के सिलसिले में एक नेत्रालय को देखकर जी खुश हुआ कि कैसे, वैज्ञानिक प्रगति एक उद्यम के जरिए आम लोगों को मुहैया हो गयी है। जिसे हम कोर्निया कहते हैं, उसकी भी कई परतें होती हैं, ऑप्टीकल नर्व जो रेटिना और मस्तिष्क के बीच दृश्य को संचरित कर 'देखे' जाने का वास्तविक काम करती है, उसकी लोकेशन को अब बाकायदा कैमरे के जरिए आँख में झाँककर पढ़ा जा सकता है, आँख के भीतर सर्जरी हो जाती है...

इस सबसे मन प्रसन्न हुआ, मगर एक ख्याल भी आया कि हमारे समाज में जितने गरीब-गुरबा लोग हैं, उनके लिए तो यह वैज्ञानिक प्रगति नाकुछ-सी ही है। जहाँ दस-पन्द्रह हजार में पूरे महीने परिवार का पेट भरने की बाध्यता हो, वहाँ रोजमर्रा के स्तर पर– यदि कोई ऐसी बीमारी आन पड़े– उसे यह सब कहाँ मिलेगा? यह ठीक है कि जान पर बन आए तो गरीब भी कहीं न कहीं से, मुख्यत: उधार के रास्ते, साधन जुटाता ही है। मगर यहाँ बात दैनन्दिन के लिहाज से हो रही है। मेरी कामवाली जब कभी बीमार होती है, मेरे पास उपचार-स्वरूप गोली माँगती है। यही हाल ड्राइवर का है। समझा जा सकता है कि उनके बूढ़े-बुजुर्ग और बच्चे जब बीमार होते होंगे, उनके ऊपर क्या गुजरती होगी! सबसे पहली गुहार तो उनके यहाँ ईश्वर को ही लगती है– सौभाग्य के अलावा कुछ करिश्मे से ठीक कर डालने की बाबत। वैसे ईश्वर ने, मुझे लगता है, पहले से ही उनका इस मार्फत ध्यान रखा होता है, हाड़-तोड़ पसीने की

जिन्दगी और तमाम मुश्किलों के बीच जीवन को जीतने का क्रम उन्हें तमाम किस्म की बीमारियों से ठीक-ठाक मुक्त रखता है (होगा) जबकि उत्तरोत्तर सुख-सुविधाओं में बहता हमारा मध्यवर्गीय जीवन कई तरह से नाजुक और वेध्यतर होता जाता है। हम जैसे उत्तरोत्तर समृद्ध हो रहे हैं तो उसी अनुपात में हारी-बीमारियों से भिड़ने के लिए भी कमजोर होते जाते हैं। शहरों में इसीलिए स्वास्थ्य चेतना को बढ़ाने वाले जिमों की भरमार होने लगी है। यानी मेरी आर्थिक समृद्धि में कम से कम दो लोग– जिम और डॉक्टर– तो किसी न किसी रूप में शामिल हो ही रहे हैं जो मेरे कामगर नहीं होते हैं।

नुक्कड़-कोनों पर जो नीम-हकीम डॉक्टर बैठते हैं, वे मुख्यत: इन्हीं लोगों का तथाकथित उपचार करते हैं। उनसे अपेक्षा होती है कि वे बीमारी भागने की बाबत दवाई-गोली दें, यह नहीं कि परामर्श के लिहाज से कुछ घसीट मारा जिसे मेडीकल स्टोर से खरीदना पड़े या परीक्षण कराने पड़ें! कोई कह सकता है कि यह इलाज बहुत कुछ तीर-तुक्के से ही चलता है, मुझे सन्देह है कि इससे बीमारी का कुछ बनता-बिगड़ता होगा (वे लोग आयुर्वेद-एलोपैथी सब सँभालते हैं) लेकिन 'आस्था या भरोसा' नाम की चीज क्या इलाज में कारगर नहीं होती है? अँग्रेजी में क्या इसी को 'प्लेसिबो' प्रभाव नहीं कहते हैं जिसे पर्याप्त अकादमिक मान्यता मिली हुई है? हमारी प्रार्थनाएँ भी तो इसी तरह कारगर होती लगती हैं। दूसरे, कॉर्पोरेट कल्चर में फँसा आधुनिक चिकित्सातन्त्र अपने रईस मरीजों को क्या अलाँ-फलाँ टेस्ट और ये-वो (ब्रांडेड) दवाएँ खिला-पिलाकर उनमें उसी तरह ठीक होने का 'भरम' नहीं भरता जाता है जो एक गरीब, किसी नीम-हकीम की नीली-पीली गोलियों के सेवन के बाद भरता है?

यानी दो स्वतन्त्र शक्ति-तन्त्र गैर-इरादतन सही, आर्थिक गैर-बराबरी की अपनी तरह से भरपाई नहीं करते जाते हैं?

सुखी और बेकार जीवन की झलकी

उन्होंने सबकुछ बड़े तृप्त भाव से साझा किया।

''हम लोग रिटायरमेंट के बाद यहीं आकर रहने लगे। मतलब लवासा में। पहले सोचा देख लें कि जगह पसन्द आ पायेगी या नहीं, इसलिए एक घर किराये पर लिया। साल-भर बाद हमें लगा कि यह तो बहुत सही जगह है– साफ हवा-पानी जंगल-पहाड़ और झील-झरनों का पड़ोस। अपने जैसे ही लोग-कोई सेवानिवृत्त डॉक्टर, जज या पुलिस अधिकारी। सब अपनी तरह से मुक्त और सम्पन्न। कहीं कोई भाग-दौड़ नहीं। कोई मारकाट नहीं। हम लोग बारह-पन्द्रह परिवार काफी नजदीक भी हो गये हैं। साथ वॉक करते हैं, क्लब में कुछ न कुछ खेलते हैं, साथ लंच-डिनर करते हैं। जब-तब ट्रेकिंग कर लेते हैं। यहाँ तक कि बाहर घूमने जाना भी साथ हो जाता है। मैं जब बैंक में थी तो पैंतीस साल की नौकरी में मेरे पाँच मित्र नहीं बन पाये, यहाँ पाँच साल में पन्द्रह हैं। इससे ज्यादा चाहिए क्या चाहिए?'' वह फोन पर ही बता रही थीं, लग रहा था नदी किनारे बैठी होंगी।

''और जो आप पहले कुछ पढती-लिखती थीं, वह हो पा रहा है?'' मैंने जिझासावश पूछा।

''उसकी तो अब जरूरत ही नहीं लगती... आजकल पढ़ता भी कौन है! हमारे क्लब में एक लाइब्रेरी है। कोई भटकता भी नहीं है। सब वेब-सीरीज या फिल्मों में लगे रहते हैं।''

उनसे काफी दिनों बाद बात हो पायी थी। लगा, कुछ बिगड़ा नहीं है... घूमना, खाना-पीना, मिलना-जुलना, फिल्में या संगीत और सोने के अलावा योग-प्राणायाम।

''यहाँ तक कि मुझे अक्सर पता नहीं चलता है कि आज दिन कौन-सा है!'' उन्होंने अपनी तरफ से ही आत्मिक खुलासा किया।

और तब मुझे एकाएक उस जीवन की झलकी हाथ लगी जो वस्तुत: मृत्यु की प्रतीक्षा में व्यतीत हो रहा होता है।

क्या उनका या ऐसा जीवन व्यर्थ है?

पता नहीं।

लेकिन मुझे यह कतई अपने लिए चुनने में घृणा लगेगी।

और इसी से मिलती दूसरी झलकी एक अजीज डॉक्टर मित्र की लगी। वह एक बेहतरीन दिमाग है, काबिल डॉक्टर। अपने क्षेत्र का विशेषज्ञ। लेकिन अब वह कमाई-अभियान को ही जीवन का लक्ष्य मानता है... कैसे जमीन ली जाये जिस पर अस्पताल खड़ा करे, कैसे दूसरे अस्पतालों के साथ मिलकर काम आगे बढ़ाया जाए जिससे कम्पनी का वैल्युएशन बढ़े। इरादा है पचास की उम्र तक सेवानिवृत्त हो जाए (और फिर क्या लवासा जाया जाए? जैसा बताया भी गया था कि सेवा निवृत्त डॉक्टर भी तो उसमें होते हैं...)

सवाल वही है– क्या सारी प्रतिभा-मेधा मूलत: और अन्तत: धन-अर्जन-भंडारण में रिड्यूस होने को बनी होती है? मैं इसे मान भी लेता लेकिन बात के सिरे लगकर कहीं उसने जोड़ा, ''फिर मैं कविताएँ लिखा करूँगा... पहले, यानी बहुत पहले तो लिखता ही था। लिख तो सकता ही हूँ।''

यहाँ उनके जीवन में आनन्द के स्रोत के बतौर दो चीजें किसी यकीन की तरह फिलहाल शामिल थीं– आये दिन बढ़िया 'सिंगल मॉल्ट' पीकर प्रसन्न होना और नियमित हॉलीडेज

लेना। हालाँकि उसका दुनिया को देखने से कोई ताल्लुक नहीं है– होलीडेज में भी तो असल में बढ़िया 'सिंगल मॉल्ट' ही पीनी है, बढ़िया होटलों में रहना है और कुछ तस्वीरें फेसबुक पर डालकर आधुनिक बने रहना है।

कौन सही है?

विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने एक मुलाकात में बड़ी आत्मीयता से कहा था– सुख नैतिक है।

क्या मैं दुराग्रह रखने लगा हूँ?

जयशंकर: कर्मठ कला प्रेमी

ऐसा कम ही होता है कि तीन-चार दिन में जयशंकर से बात न हुई हो। बाजदफा कोई खास वजह नहीं भी होती है तब भी उनका फोन उस भरोसे का नम्बर है जिससे आप जीवन-जगत से कहीं ज्यादा अपनी बौद्धिक उलझनों को साझा करते हुए उनसे दो-चार होने की ऊर्जा ग्रहण करते हैं।

तीन दिन की यात्रा से लौटने के बाद जब दो और दिन बीत गये तो मैंने उन्हें खटका दिया।

उन्होंने फोन पर जो बताया वह अजीब तरह से दिलचस्प और खिन्नता-सी ओढ़े था। हुआ क्या कि 'मधुमति' और 'कथादेश' के इधर आये निर्मल वर्मा केन्द्रित अंकों में उनके दो लेख हैं। एक निर्मल जी की कहानियों के बारे में और दूसरा उनके सिंगरौली वाले रिपोर्ताज को लेकर। दोनों में उनके विचार ठीक तरह से अभिव्यक्त हुए हैं और दोनों सम्पादकों समेत दूसरे पाठकों-मित्रों ने पसन्द भी किये।

''मैंने दोनों को इधर फिर से पढ़ा तो मुझे लगा मेरे लेखन में अभी कितनी अपरिपक्वता है। खाली कुछ बिन्दु या तर्क प्रस्तुत करना काफी नहीं है। एक लेखक को किसी लेखक पर लिखते हुए केवल उस लेखक की नहीं, अपनी भी तलाश करनी होती है, जिसका इन लेखों में मुझे नितान्त अभाव लगा। इस पर सोचते हुए मैं गहरे उदास होता चला गया। दूसरे कुछ भी कहें मगर हर लेखक को पता होता है कि उसने कुछ अच्छा लिखा है या नहीं। और ये दो लेख ही क्यों, मुझे अपने पूरे लेखन के बारे में गहरी असन्तुष्टि हुई जो लगातार बनी रही। मैं रोज लाइब्रेरी चला जाता, किसी का फोन नहीं उठाता और सोचने लगा कि अब क्या किया जाये। जब मैंने ऐसा सोचना शुरू किया तो बाइस पैरा लिखे मैंने– अपने लेखन की खामियों के बारे में। इनमें से मैं यदि आधे भी दुरुस्त कर लूँ तो कुछ हो सकता है।''

वे पूरी निर्ममता से बोले जा रहे थे। मैंने दूसरे किसी लेखक को अपने प्रति इस निर्ममता से आत्म-निरीक्षण करते नहीं देखा।

मैंने उन्हें टोका, ''ऐसा है जयशंकर जी, पिछले दिनों निर्मल जी पर एक के बाद एक, दो लेख लिखकर आपने एक नामुमकिन काम कर डाला। बड़े लेखकों पर लिखने के लिए समय चाहिए होता है। विजय कुमार जी भी निर्मल जी को खूब पसन्द करते हैं लेकिन इसलिए नहीं लिख सके कि शम्पाजी उन्हें पर्याप्त समय नहीं दे सकीं। जब आप लगातार निर्मल जी पर ऐसे लिखेंगे तो बहुत मुमकिन है कि उसकी गुणवत्ता वैसी न बन सके जैसी आप सोचते हैं।''

मैं ऐसे ही उन्हें समझाने लगा। पता नहीं कैसे बात 'कथादेश' के निर्मल अंक की शुरू हो गयी। कुल मिलाकर तो अंक अच्छा ही है, लेकिन कुछ लोगों ने कैजुअल तरीके से भी लिखा है, जो नहीं होना चाहिए था।

निर्मल जी की बात आते ही जयशंकर के भीतर बहुत कहने को उमड़ने लगता है, ''अब आप देखिए कि कई लेखकों ने निर्मल जी को रोमांटिक बना डाला है जबकि उनका सबकुछ इतना यथार्थपरक है।'' वे ठिठककर बोले।

''बहुत लोगों को शायद उनकी भाषा लुभा ले जाती है, कुहासे का माहौल, अकेलेपन और स्मृति में विचरते चरित्र...''

''अरे तो भाषा और स्थितियों से थोड़े ही कोई रोमांटिक हो जाता है!''

''वह ठीक है लेकिन सबकी अपनी समझ भी तो होती है।''

''समझ तो ठीक है, लेकिन लोग कोशिश भी तो नहीं करते अपनी तरफ से।''

''समझ बढ़ेगी तो कर लेंगे।'' मैंने सरकाया।

यह शायद जयशंकर का ही असर है कि अब मैं सोच, विचार और आचरण में दूसरों से कम अपेक्षाएँ रखता हूँ और उनकी खूबियों-कमियों को एकसार तबियत (मतलब पहले की बनिस्बत) से देखने लगा हूँ।

''कब बढ़ेगी? कितने तो अब मध्यवयस पार कर चुके हैं।'' वे किंचित् चिन्ताकुल हो उठे, कुछ हताश भी।

''इस बात से तो मैं सहमत हूँ– हमारे लेखक अपने लिखे की एडिटिंग-ऑडिटिंग नहीं करते। जहाँ चार वाक्य लिखने से काम चल जाए वहाँ पूरा पेज लिख देंगे... इससे पाठक ऊबता है...''

''इसका सीधा ताल्लुक कहीं उनके अध्ययन से भी है... निर्मल जी कितना पढ़ते थे! गीतांजलि श्री ने अपने संस्मरण में इसका सही उल्लेख किया है। निर्मल जी की एक खूबी यह भी थी कि उनसे किये हरेक सवाल को वे बड़ी गम्भीरता से सोचते थे, तभी जवाब देते थे। जैसे गीतांजलि ने एक बार उनसे पूछा कि निर्मल जी आपने इतना पढ़ कैसे लिया? उन्होंने

तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में केवल इतना ही कहा– मैंने जीवन में पढ़ने के अलावा किया ही क्या है।''

इस सन्दर्भ में निर्मल जी के साक्षात्कारों के मुझे भी कुछ प्रसंग याद आ गये जो मैंने साझा किये। मैंने गौर किया कि निर्मल वर्मा के जीवन या कृतित्व के उल्लेख-भर से जयशंकर की आत्मा प्रफुल्लित हो जाती है। ऐसी अटूट निष्ठा, ऐसा निश्छल प्रेम वही कर सकता है, जिसके पास इसका भंडार हो।

''जयशंकर जी, मुझे लगता है हम बड़े मुश्किल समय में रह रहे हैं। लिखने-पढ़ने का रोज-ब-रोज का सिलसिला इसे जरा और बिगाड़ डालता होगा... दिन-रात वही किताबों में उलझे रहना, सामाजिकता से कटकर लिखने की कोशिश चलाये रखना... हम बहुत मित्र-विहीन हो चुके हैं। और दिक्कत यही है कि न मित्र पाल सकते हैं और न सामाजिकता में उलझ सकते हैं। लेकिन कुछ तो करना होगा... मेरा मतलब है खुद को इस सबसे परे रखकर, चाहे कुछ देर के लिए ही सही, अपने को मनोरंजित करना... फिल्म देखकर या कहीं घूम-फिरकर।'' मैं वाकई अपनी बात कहता लग रहा था।

''ये बात तो है। कोविड के कारण हमारी फिल्म सोसायटी काम नहीं कर पा रही है वर्ना वहाँ हर हफ्ते एक फिल्म देखने को कुछ लोग आ जुटते थे। मैं कहीं यात्राओं पर नहीं निकल पा रहा हूँ।''

लगा, हम दोनों डिप्रेशन के सूत्रों को पकड़ने लगे हैं।

जैसा हमारे बीच अक्सर होता है, संवाद के जरिए कुछ आत्मीय सन्दर्भों को पकड़ना, वह कम से कम मुझे तो होता लगा।

'आत्मीय' शब्द से मुझे निर्मल जी की एक बात फिर याद आने लगी जो पता नहीं उन्होंने कहाँ लिखी है– अहम से पीड़ित लोग बहुत आत्मीय नहीं हो पाते हैं।

गौतम सान्याल के कौव्वे

गौतम से पुरानी मित्रता है। वह न सिर्फ आत्मीय, देसी और संवेदी जीव है बल्कि मेरे जाने अच्छा-खासा जीनियस है। बेहद पढ़ाकू।

बस ये है कि बहुत बिखरा रहता है जो कुछ हद तक एक बंगाली-मानुष का स्वभाव होता है। उससे बात करते हुए किसी अजीज से बतियाने का सुख मिलता है। उसके साथ मगर एक दिक्कत यह है कि घंटे-भर से कम में फोन को किसी टुच्चे बहाने से 'अगली बार-बात करते हैं' कहकर रखना पड़ता है। इस फुर्सत का एक कारण उसका वर्धमान जैसे दूरस्थ कस्बे में बिताया जीवन तो होगा ही, विश्वविद्यालय की नौकरी भी हो सकती है जिसमें समय की पाबन्दियाँ ज्यादा काम नहीं करती हैं।

कोई साल-भर पहले उसने पता नहीं क्या सोचकर फोन पर ही नाराजगी दिखाते हुए एकतरफा घोषणा कर दी कि मैं उसे अपने जाने मरा मान लूँ। कॉलिज की नौकरी से वह चार-पाँच बरस पहले निवृत्त हो गया था तो जीवन में कुछ खालीपन भर आया होगा, मैंने सोचा। दूरस्थ कस्बे में पड़ा कोई लेखक वैसे भी एकाकी महसूस कर सकता है। उसकी फितरत भी हिचकोले खाने की है। कई बार डिप्रेशन का शिकार हो चुका है, उससे बाहर आता रहा है। शायद इसी जोम के चलते– या हो सकता है मुझसे किसी अपेक्षा की पूर्ति न करने– उसने गम्भीरता-भरे गुस्से से मुझे खुद को मरा मान लिये जाने का ताना दिया। मैंने सौजन्यता से यथासम्भव बचाव-प्रतिकार किया भी लेकिन वह अडिग रहा।

मैंने भी मान लिया– जब शेर सामने आयेगा तो जो करेगा शेर करेगा, सोचकर। वैसे भी मित्रता में कोई जबरदस्ती नहीं चलती। मित्रता सदैव एक सी रह भी नहीं पाती। बाजदफा उसकी मियाद भी हो जाती हो!

कोई चारेक माह पूर्व उसका नाम दर्शाता मेरा फोन घनघनाया तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। मैंने पूरी तरह से सामान्य होकर ही बातें शुरू कीं मगर वह बात को उसे पिछली दफा छोड़े सिरे पर ले आया।

''एक बात बताओ, क्या तुमने मुझे मरा मान लिया था... सही बताना'' उसने कहते हुए इसरार में सचाई जाननी चाही।

''बिल्कुल नहीं भाई... किसी को ऐसे ही मरा मान लिया जाता है क्या? हाँ, कुछ दिनों संवाद नहीं होगा, वह अलग बात है।'' मैंने जबाव दिया।

''तो बताओ, तुम मुझे फोन करते?''

''शायद नहीं, कुछ दिनों तो नहीं ही... क्योंकि तुमने चीजों को अपनी तरफ से हम दोनों के लिए तय कर डाला था।'' मैंने दो टूक कहा।

''तुम साले इतने सच्चे हो कि दिल आने को होता है। कोई डिप्लोमेसी नहीं। सब साफ...''

इधर जम आयी संवाद की काई को उसने अपने आत्मीय– कहना होगा गौतमीय– अन्दाज से बुहारा कि मन में गिला करने को कुछ बचा ही नहीं।

''मैं सच कह रहा हूँ गौतम... आज तुमसे बातें करते हुए लग रहा है जैसे पिछली बार कुछ हुआ ही नहीं... शायद मित्रता की कसौटी भी यही है कि वह तात्कालिक व्यवधानों के बीच भी अपनी गरिमा बचा ले जाती है...''

उसके बाद 'क्या पढ़-लिख रहे हो' टाइप की कुछ बातें

होती रहीं। पिछली दफा मुझे ऑफिस जाने के कारण बातों को आहिस्ता स्थगित करना पड़ा था। आज जब फिर से फोन पर बातें होनी शुरू हुईं तो पहले तो उसने– आदतन– मेरे व्यस्त रहने आदि को लेकर छेड़ा, मेरे जन्नत और खुद के जिन्नात में रहने की उपमा दी और बोला, ''दुनिया तो जिन्नातों से भरी ही पड़ी है, मगर मैं सोचता था साहित्य में तो जन्नत बसती होगी!''

''भाई ऐसा सोचने में कोई बुराई नहीं है लेकिन लेखक भी तो अपने ही समाज से निकला प्राणी है।''

''बेशक... लेकिन क्या तुम यह नहीं मानते हो कि वह मूल्य और संवेदना के स्तर पर समाज के दूसरे लोगों से बेहतर होता है?''

''बेहतर कहना तो शायद ठीक न हो, लेकिन उससे अपेक्षा ऐसी जरूर की जाती है... जो कि ठीक नहीं है। कोई भी कलाकार एक सामान्य इंसान भी होता है।''

''तुम कितनी आसानी से साहित्यकारों के गुनाहों पर पर्दा डाल देते हो... मेरा तो मन उचटता है।''

''भाई, मैं समाज को नहीं बदल सकता हूँ। समाज में जो हो रहा होता है, उसके प्रति मैं केवल अपने रेस्पॉन्स को रेगुलेट कर सकता हूँ... समाज को बदलने की सोचूँ तो समाज तो बदलने से रहा, खुद ही परेशान रहूँगा।''

यह मैं वाकई सोचता हूँ। मेरे लिखे से समाज कुछ बदलेगा, ऐसा मुझे कोई मुगालता नहीं है। इसलिए अपने लिखे को अधिकांशतः कला के स्तर पर जीता हूँ।

मैंने सोचा मैंने पर्याप्त स्पष्ट उत्तर दिया है। मगर गौतम ने टोकते हुए पूछा, ''क्या लेखक समाज को बदलने का सपना नहीं पालता है?''

''जरूर पालता है... लेकिन अपनी कला के जरिए ही... समाज या उसका आस-पास, जैसा और जितना बदलेगा, कम सम्भावना है कि उसमें लेखक की भूमिका हो?''

''तो लेखक क्यों लिखता है?''

''यह बड़ा सवाल हो सकता है, लेकिन लेखन से सामाजिक बदलाव की आकांक्षा रखना मुनासिब नहीं। कभी समाजवादियों ने ऐसा करने की अपेक्षा रखी थी।''

मैं उसे रूसी क्रान्ति के बाद रचे साहित्य की परख में आये बदलाव की तरफ ले जाना चाह रहा था कि उसने एक अलग छेड़ लगा दी, ''अच्छा ये बताओ, दुनिया भर में कौव्वे काले क्यों होते हैं?''

मैं इस विचलन से अचकचाया तो उसने फिर जोड़ा, ''बचपन से तुम देखते आये होगे... कौओं को... उन्हें कोई नहीं पालता, सब तरफ अशुभ ही माने जाते हैं।''

''यह तो परम्परा का रचा है...'' मुझे वाकई कुछ नहीं सूझ रहा था जबकि जानता था कि गौतम के सवाल के गहरे निहितार्थ होंगे।

मेरे पतलेपन को भाँपते हुए उसने जोड़ा, ''तुम्हें मालूम है पहले कौव्वे काले नहीं हुआ करते थे... कोई कहता है सफेद होते थे, तो कोई उन्हें सतरंगी कहता। फिर ऐसा क्या हुआ कि वे काले हो गये... समग्र प्रजाति।''

मैं अब किसी परिकथा के भाव से उसकी बातें सुनने लगा तो कुछ पलों के अन्तराल की छूट माँगकर वह कौओं के ऊपर छब्बीस बरस पूर्व लिखे अपने लेख से किसी कविता-अनुवाद को उद्धृत करके सुनाने लगा। कविता मूलतः दन्तकथा थी जो कुछ यूँ हैं– एक बार कौव्वे को लगा कि यह सूरज कुछ ज्यादा ही चमकता-चौंधियाता है। उसकी चमक कम करनी होगी। और वह सूरज की तरफ हमला करने उड़ लिया। उसने उसे यथासम्भव खरोंच मारी लेकिन अन्ततः झुलस गया। तभी से वह काला हो गया... क्या तुम इस लेख को पढ़ना चाहोगे? छब्बीस साल पहले जब छपा था तब भी बहुत कम लोगों ने पढ़ा था। 'बहुमत' को पढ़ते भी कितने लोग हैं...।

मैं अविभूत होकर उस दन्तकथा की चपेट में था। गौतम की निजी पीड़ा अपनी जगह लेकिन दन्तकथा के निहितार्थों ने मेरे भावबोध को यकीनन धक्का दिया।

अपना जीवन जीते हुए तुम दुनिया के राग-द्वेष के प्रति अपने जाने कितना भी तटस्थ हो जाओ, लेकिन उस स्वप्न को तो साथ रखना ही होगा जो बाहरी-भीतरी कलुषता का प्रतिकार करता है।

''वह मैं अपने रचे के स्तर तक ही सीमित रखना चाहूँगा।''

मैंने जैसे खुद को ही उत्तर देना चाहा तो भीतर से एक सवाल कौंध आया– क्या अपने जीवन और सृजन में ऐसा दो-फाड़ बरतते हुए ठीक से सो सकोगे?

इसका कोई उत्तर मेरे पास नहीं था। मैं कला सृजन को व्यक्ति की निजता से अलगाने की हिमायत करता हूँ लेकिन व्यक्ति और सर्जक के बीच एक सम्भव-साम्य का भी आकांक्षी रहता हूँ।

सारी हरियाली काव्य में रचते जाओ, चाहे जीवन कितना भी उष्ण हो! यह बात मेरे गले कभी नहीं उतरती है।

अभी तो गौतम को मेल से आलेख भेजने को कह दिया है।

ए-24, इनकम टैक्स कॉलोनी
(जसलोक अस्पताल के पीछे)
पेडर रोड, मुम्बई-400026
मो. 9820688610

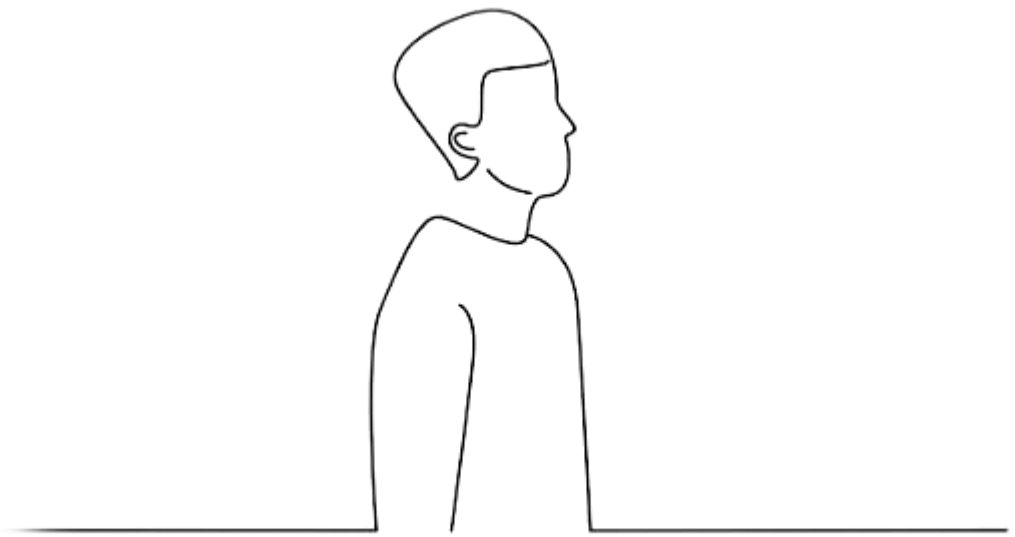

वह यक्ष नहीं था!

प्रकाश कान्त

मरियल-सा शख्स! गालों में गड्ढे! चेहरे की उभरी हुईं हड्डियाँ। मिचमिची आँखें! एक आँख में फूल। रूखे, बड़े और बेतरतीब बाल। अक्सर दो-एक दिन की बढ़ी रहने वाली दाढ़ी। बेनाप पैंट-शर्ट या कमीज-पाजामा। गन्दे पाँव, जिनमें दसियों जगह से मरम्मत की हुईं चप्पलें! कमीज की बाँहें ओटी हुईं। बटन एक-दो टूटी हुईं और अक्सर ऊपर-नीचे लगी हुईं। गौतम बुद्ध! यह उसका नाम नहीं था। यूँ भी 'बुद्ध' नाम होता नहीं! गौतम जरूर होता है। हालाँकि, उसका नाम गौतम भी नहीं था। इस तरह वह गौतम बुद्ध नहीं था। लेकिन मैं कह देता था, कभी-कभी मजाक में! उसके कान देखकर! उसके कान बड़े थे, जैसे बुद्ध की मूर्तियों में बताये जाते हैं वैसे, बड़े।

''यार, तुम्हारे कान बुद्ध जैसे हैं!'' मैंने एक दिन मजाक में कहा था। उसके पिचके चेहरे पर सवाल-जैसा उभरा था।

''मेरा मतलब गौतम बुद्ध जैसे– लम्बे!'' मैंने बात साफ की थी, ''तुमने भी कहीं चित्रों में देखे होंगे!''

''अच्छा वो!'' उसके चेहरे पर हल्की-सी चमक आयी थी, ''वोई न, जो बीवी-बच्चे को छोड़ कर रात में घर से चुपचाप चले गये थे? एक बार माट्साब ने बताया था।'' उसने अपनी आधी-पौनी जानकारी के आधार पर कहा था।

''घर से नहीं, महल से! वे राजकुमार थे!''

''हाँ जी, महल से सही! लेकिन, छोड़कर तो गये थे न! इस देश में लोग बीवी-बच्चे, घर-बार छोड़कर ही बड़े बनते हैं! या तो छोड़ देते हैं या फिर निकाल देते हैं। भले ही बीवी बेचारी के पाँव भारी हों! तुलसीदास जी ने, सुना है, घर वाली को छोड़ दिया था और राम जी ने सीता माता को जंगल भेज दिया था। आदमी जो न करे सो कम!'' कहने के बाद उसने बीड़ी जला ली थी और कोई सस्ता-सा गाना आधा-अधूरा गाते चला गया था। वो गौतम बुद्ध या गौतम नहीं था। नाम उसका कुछ और था। पीछे कहीं रहता था। मेरी कॉलोनी के पीछे! वह इलाका झुग्गी-झोपड़ियों का था। एक तरह की जबरन कॉलोनी। मेहनत-मजूरी और छोटे-मोटे काम-धाम करने वालों की। ऐसे ही ज्यादातर लोग वहाँ रहते थे। कभी-कभी जाना होता था मेरा। लड़ाई-झगड़े या ऐसी ही किसी वारदात के मौकों पर! एकाध बार आग वगैरह लग गयी थी, तब भी गया था। आग रात को लगी थी। दो झोपड़ियाँ जल गयी थीं। अन्दर रखा छोटा-मोटा सामान भी! गनीमत थी कि जिस्मानी नुकसान नहीं हुआ था। रहने वाले कहीं गये हुए थे। जाँच, मुआवजा वगैरह के फॉलोअप के सिलसिले में मेरा कुछ दिन उधर जाना-आना लगा रहा। एकाध बार उस बस्ती की जमीन के मालिकाना हक के विवाद के सिलसिले में भी जाना हुआ था। जमीन जिसकी थी, वह और उसके दूसरे नजदीकी रिश्तेदार बरसों पहले मर-खप गये थे। कोई कानूनन वारिस नहीं बचा था। ऐसे में दबंग किस्म के दो-तीन झूठे-सच्चे दावेदार पैदा हो गये थे। उनके कारिन्दे वहाँ के बाशिन्दों को बीच-बीच में आकर जमीन खाली करने के लिए धमका जाते थे। गाली-गलौज, हाथापाई भी कर जाते थे। इसके कवरेज के सिलसिले में भी जाना हुआ था। उसी जाने-आने में उसे वहाँ देखा था। मुझे देखकर खुद पास आ गया था!

''यहाँ रहते हो?''

''जी बाबूजी, और कहाँ जायेंगे!''

''मकान तुम्हारा है?''

''मकान काय का बाबूजी, कच्ची-कच्ची-सी दो कुट्टड़ हैं। पीछे नाला है जो बुरी तरह गन्धाता रहता है। शुरू में साँस लेना मुश्किल होता था। अब आदत हो गयी है। आदत साली चीज ही ऐसी है, धीरे-धीरे हर बात की हो जाती है। खराब या अच्छी हर बात की!'' उसने थूकते हुए कहा था। मुँह में शायद तमाखू थी।

''तुमने बताया नहीं, मकान तुम्हारा है!''

''अपना काय का बाबूजी, किराये का है। पता नईं कौन का है! एक बन्दा आता है डाकू-जैसी मूँछ वाला, वोई किराया ले जाता है। हर महीने की पहली तारीख को किराया तैयार रखना पड़ता है। कहीं से भी और कैसे भी करके! नहीं हो तो गालियाँ देता है। मकान खाली करवा लेने की धमकी देता है। ऐसी धमकी तो भगवान भी अपनी साली इस वाहियात दुनिया खाली करवाने के लिए नहीं देगा!'' उसने कहा था। मैंने कॉलोनी के बारे में कुछेक जानकारी उसी से पूछी थी। उसे जितना कुछ मालूम था, बता दिया था!

''भग्गू, आज गया नईं?'' पास से गुजरते उसके किसी पहचान वाले ने पूछा था।

''हाँ, अब जा रहा हूँ!'' उसका जवाब था।

''तुम्हारा नाम भग्गू है?''

''हाँ बाबूजी, सब येई बोलते हैं! वैसे नाम तो भगवान है लेकिन नाम होने से क्या होता है, कुछ भी रख लो, भले ही प्रधानमन्त्री रख लो जो आज के जमाने में भगवान से भी बड़ा होता है! माँ-बाप को अगर ठीक से पता होता तो प्रधानमन्त्री नाम रख देते। पता नहीं था तो भगवान रख दिया। सो अब भगवान बेचारे पड़े हैं गन्दे नाले के किनारे अपने कुनबे के साथ! ले रहे हैं बदबू का मजा!'' वह हँसा था। और चला गया था। मैं दफ्तर निकल आया था।

अक्सर दिख जाता था, शहरनुमा कस्बे में! ठेला लिये। कभी खाली, कभी सामान से लदा। बस स्टैंड, सब्जी मंडी, वेअरहाउस, पत्थर-गोदाम! दो-एक बार श्मशान में दिखा था। किसी की मैयत में नहीं! चिता के लिए लकड़ियाँ लेकर! श्मशान में लकड़ियाँ खत्म हो गयी थीं। कई बार हो जाया करती थीं। नगर पालिका की लापरवाही के चलते! तब बाहर से लकड़ियों का इन्तजाम करना पड़ता था। इसे लेकर अखबारों में लिखा भी जा चुका था। बहरहाल, उस सूरत में शवयात्रा पहुँचने के पहले लकड़ी पहुँचाना पड़ती थी। ठेले पर! वह तभी दिखा था। मुझे देख कर मुस्कराया था। मैं भी! हालाँकि, कहना चाहा था 'यहाँ भी!' लेकिन, नहीं कहा था! जानता था कि जवाब में कह देगा– धन्धा है बाबूजी, रोटी इसी से मिलती है। वक्त-जरूरत अगर मसान में लकड़ी तो क्या मुर्दा भी पहुँचाना पड़ा तो पहुँचा देंगे! राशन देने वाला यह थोड़े ही पूछता है कि पैसे मसान में लकड़ी पहुँचाने के मिले हैं या मुर्दा पहुँचाने के! यूँ पैसा भी कहाँ जानता है यह सब! शुरू में जब गाँव से आया था और

दो-तीन दिन कोई काम-धाम नहीं मिला था और भूख के मारे जान निकलने-निकलने को होने लगी थी तब अर्थी पर से फिंके पैसों से ही भूख मिटायी थी! मरने वाला पता कौन था! पैसे फेंकने वाले का भी पता नहीं! लेकिन, भूख का इन्तजाम हो गया था। एक बार उसी ने यह बताया था। सब्जी मंडी में! वहाँ ओम मिल गया था, अपना ठेला लगाये हुए! कुछ और ठेले भी लगे थे। एक-दो लोडिंग रिक्शा भी! नीलामी चल रही थी। उस दिन हाट था।

हाट के दिन मंडी में काफी हंगामा रहता था। आसपास के गाँव-खेड़ों के छोटे-बड़े सब्जी पैदा करने वाले सबेरे जल्दी आ जाते थे। नीलामी शुरू होने के पहले। नीलामी दस-साढ़े दस तक निपट जाती। सब्जी वाले सब्जी ठेलों पर लदवा कर निकल जाते। मंडी शहर से बाहर थी। सो ढुलाई के लिए ठेलों या लोडिंग रिक्शा की जरूरत पड़ती थी! शहर के कई ठेले वाले सबेरे मंडी में ही पहुँचते थे। ग्यारह-बारह बजे तक मंडी खाली हो जाती थी। मुझे हाट के दिन सब्जी के भाव पता करने जाना पड़ता था– 'शहर की खबर' के लिए! यह जानते हुए भी कि मंडी के भाव पढ़कर ही कोई अपने रोज के खाने की किलो-आधा किलो भिंडी-गिलकी या कद्दू-भटे नहीं खरीदेगा! फिर भी सम्पादक का कहना था, सो मंडी चला जाता था! सबेरे जल्दी तैयार होकर पहुँचना पड़ता। नीलामी शुरू होने के आसपास! वह भी दिख जाता। वैसे, सब्जी वालों के ठेले बँधे हुए थे। अलग से काम ढूँढ़ना नहीं पड़ता था! वह दिख जाता तो दूर से ही मुस्करा देता– हाथ जोड़ देता या हवा में हाथ हिला देता। कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता!

उसके घर का एक रास्ता दूसरी तरफ से भी था। उस रास्ते से आने-जाने की वजह से कभी-कभी कम भी दिखता था। जब कभी मेरे घर के सामने से गुजरता और मुझे देख लेता तो हाथ हिला देता। कभी रुक जाता। थोड़ी-बहुत बात हो जाती, घर-परिवार, काम-धाम वगैरह को लेकर! दो बच्चे थे। घरवाली के पिछले पति से! पिछला पति गुजर गया था। वह अपने दो बच्चों समेत उसके साथ रहने लगी थी। वह तब तक क्वाँरा था। शादी नहीं हो पायी थी। उसकी हालत और हुलिये की वजह से! सो अब वही औरत उसकी बीवी थी! और उस औरत के बच्चे उसके बच्चे!

''तुम्हारा अपना बच्चा?'' मैंने पूछा था।

''अपना नहीं है। घरवाली तो कहती है कि अपना भी पैदा कर लूँ! मैं ही मना करता हूँ। इस महँगाई में इनका ही पूरा नहीं पड़ता, एक और का झमेला कैसे सँभलेगा! इनका ही ठीक-ठाक कुछ हो जाये, काफी है। और फिर अपना क्या और पराया क्या! अपने भी कहाँ पूछते हैं आजकल! ये भी नहीं पूछेंगे तो कम से कम तसल्ली तो रहेगी कि आखिर पराये ही थे, अपने नहीं!'' उसका बिन्दास जवाब था। मैं हँस दिया था। अखबार वापस कर वह चल दिया था। आते-जाते अगर मैं दिख जाता और उसके पास वक्त होता तो वह अखबार माँग लेता था। बात करते-धरते उलट-पुलट लेता। यहाँ-वहाँ नजर डाल लेता और लौटा देता।

''सब साले कमीने हैं!'' शायद अपने-आप से कहता। फिर मुस्करा देता। उसकी मुस्कराहट में भी कोई बेहद गन्दी गाली घुली होती। मैं हँस देता। दो-एक बार अपने निजी काम से भी उसे बुलाया था। काम निपटा कर कुछ देर बैठा था। बीड़ी जला ली थी। मैंने चाय का पूछा था, मना कर दिया था। मजूरी के बारे में पूछा तो बोला, ''आपसे क्या मोल-भाव करना बाबूजी! आपको जो ठीक लगे दे दें!'' मेरे बार-बार पूछने पर 'रहने दीजिये' कहकर जाने लगा था। मैंने रोककर अपने हिसाब से मजूरी चुकायी। उसने बिना गिने-देखे रख ली। चला गया।

वह पास के किसी गाँव का था। माँ-बाप मजूरी करते थे। फिर वे गुजर गये। माँ-बाप दोनों! उसी ने बताया था। वह भी वहाँ मजूरी करता रहा था। फसल के दिनों में और उसके अलावा जहाँ जैसी मिली– वैसी! कई बार नहीं भी मिली। चुनावों के दिनों में इस-उस उम्मीदवार के बैनर टाँगे, पोस्टर चिपकाये, पर्चे बाँटे! ''दो टेम खाने को मिल गया, रात को पव्वा पीने को!'' पव्वे बाली बात पर उसने एक आँख हलके-से दबायी थी और मुस्कराया था।

''पढ़ाई का क्या हुआ?''

''गाँव में स्कूल तो था। मैं भी गया था! बाप ने भर्त्ती करवा दिया था यह बोलकर कि पढ़ लूँगा तो साब बन जाऊँगा। थोड़ा-बहुत पढ़ा भी। जैसे-तैसे सातवीं तक भी पहुँच गया, धक्का परेड में! भगवान जाने मास्टर लोगों ने क्या काला-पीला किया और पहुँचा दिया। आया-गया कुछ भी नहीं! मास्टरों ने कभी साला कुछ पढ़ाया ही नही। जब मन हुआ स्कूल आये, नहीं हुआ तो नहीं आये! आये भी तो पढ़ाया कम, आपस में गप्प ज्यादा लगायी, तमाखू-बीड़ी पीते रहे! आपस में झगड़ते भी रहे! एक मास्टर तो पट्ठा दारू पीके ही स्कूल आया करता था। झूमता-झामता! एकाध बार तो स्कूल की पेड़ी चढ़ते बखत गिर भी पड़ा। सिर फूटा। बाकी मास्टर लोगों ने अपना लड़ना-झगड़ना छोड़ उसकी मलम-पट्टी करवायी और घर छोड़कर आये! अजीब मजा रहा! लेकिन, अब लगता है कि मास्टरों ने अच्छे से साला पढ़ा दिया होता तो आज यूँ ठेला नहीं धकाना पड़ता। कहीं कोई ढंग का काम-धाम मिल जाता। इसीलिए चाहता हूँ

वनमाली कथा

का आगामी अंक

सितम्बर, 2022

दस कविताएँ

संतोष चौबे

फोकस

पंकज सुबीर

कथेतर

शैलेन्द्र सागर

अन्य कहानियाँ

संतोष चौबे

राकेश दूबे

अनिल प्रभा कुमार

कृपाशंकर

एतगर केरेत (कथाविश्व : इजराइल)

आशीष गड़नायक (कथाभारत : ओड़िया)

व अन्य स्तम्भों में

मुकेश वर्मा, जितेन्द्र श्रीवास्तव,

अरुण होता, प्रियदर्शन,

नीरज खरे तथा अन्य

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए

9893100979 पर वाट्सऐप करें

कि बच्चे साले ठीक से पढ़ लें! सरकारी स्कूलों में तो यहाँ भी कहाँ पढ़ाते हैं और प्रायवेट स्कूल तो दुकानें हैं। जितनी बड़ी दुकान, उतनी ज्यादा फीस! कहाँ से दूँ! तो अभी तो उनको भेज रहा हूँ सरकारी में!'' बोल चुकने के बाद उसने थूका था। यह उसकी आदत थी। बोल चुकने के बाद आसपास जगह देखकर थूक देता था। पता नहीं अपना गुस्सा जाहिर करते या भीतर घुमड़ती घिन के चलते!

उसने सरकारी और निजी स्कूलों के बारे में जो कुछ कहा था, वह सब अखबारों में कई बार आ चुका था। अपने अखबार में भी! स्कूल खुलने वाले महीनों में! सम्पादक ने शहर के स्कूलों को लेकर एक छोटा-मोटा डिस्पैच तैयार करवाया था। तब गया था सभी स्कूलों में– सरकारी और निजी दोनों में! अपनी बेटे के स्कूल भी गया था। वहाँ भी वही हालत थी।

''बच्चों को पढ़ा तो रहा हूँ बाबूजी, लेकिन जिस तरह की हालत नजर आ रही है, उसमें उनका कुछ होगा-बनेगा, ऐसा लगता नहीं! आने वाला बखत जब सिर्फ मातबर, ताकतवर और कड़क नोटवाले लोगों का होगा, तब कमजोरों के लिए कहाँ जगह बचेगी! उन्हें भी गुजारे के लिए ठेला भले ही नहीं धकाना पड़े, लेकिन करना ऐसा ही कुछ पड़ेगा। नहीं कर सके ता भूखे मर जायेंगे, खतम हो जायेंगे।''

उसकी आवाज में अजीब-सा कुछ था। मायूसी, फिक्र, तकलीफ और गुस्से का मिलाजुला-सा कुछ! वही कुछ आँखों में भी था। बोल कर वह चला गया था, ठेला लेकर! मैं सोच रहा था कि ऐसे लोगों के लिए भी अखबारों में जगह होना चाहिए। घटिया और पाखंडी नेताओं, मक्कार-बेईमान सफेदपोश लोगों के लिए तो खूब हुआ करती है!

मेरे लिए वह सूचनाओं का एक तरह से स्रोत भी था। मुझे अखबार के लिए खबर कभी-कभी उससे भी मिल जाया करती थी। पूरे शहर में घूमता था। मुझे भी खबरों के लिए यहाँ-वहाँ जाना-आना पड़ता था। वैसे 'शहर की खबर' का मालिक-सम्पादक काफी काम खुद देख लेता था। लेकिन, खबरों के लिए मुझे जाना पड़ता था। यूँ मेरा अपना भी काम-धाम था। लेकिन पुरानी जान-पहचान और मेल-मुलाकात के चलते अखबार का भी थोड़ा-बहुत काम देख लिया करता था। अखबार का मालिक-सम्पादक मेरे साथ पढ़ा था। अखबार के अलावा उसके और भी दसियों दन्द-फन्द थे। प्रेस थी जिस में शोक पत्रिका-लग्न पत्रिका से लेकर बहुत सारी सरकारी-गैरसरकारी छपाई का काम होता था। दिन-भर लगा रहता था। वैसे, प्रेस के दो कर्मचारी भी थे। प्रेस निजी मकान में थी। बाहर के कमरे में उसका छोटा-सा ऑफिस था। वह

वहीं बैठता था। उसी में छोटा-सा चेम्बर अखबार के दफ्तर का था। दो-तीन कुर्सियाँ लगी थीं। एक पर मैं बैठता था। वहीं खबर वगैरह बना देता, प्रूफ देख लेता। सम्पादकीय और बाकी चीजें सम्पादक लिखता था।

''तुम यार, बाहर का काम देख लिया करो, बाकी मैं सँभाल लिया करूँगा!'' सम्पादक ने कह रखा था। मैं अपने काम-धाम से निपट कर शाम को एकाध चक्कर लगा आता था। जरूरी काम निपटाता और आ जाता। शहर में अगर सभा, जुलूस, भंडारा, प्रवचन, स्वास्थ्य शिविर वगैरह जैसा कुछ हो रहा हो तो उधर चला जाता। उसने अपनी पुरानी बाईक दे रखी थी! पेट्रोल का खर्च भी देता था। उसके पास एक गाड़ी थी। दिन में अगर शहर में छोटा-बड़ा कहीं कुछ घट गया हो तो बाईक होने से मुझे पहुँचने में आसानी होती थी। यूँ छोटे-मोटे संस्था-संगठन वाले अपने कार्यक्रमों की खबरें मय फोटा वगैरह के खुद दे जाया करते थे। उन्हें ठीक-ठाक कर लगा देते थे। सभा-जुलूस के लिए जाना पड़ता था। यूँ शहर छोटा था, लेकिन सभा-जुलस वगैरह का सिलसिला चलता रहता था। अलग-अलग पार्टियों के छोटे-बड़े नेताओं की आवाजाही बनी रहती थी। उनकी सभा-रैली होती रहती थी। वैसे ही मौकों पर आसपास कभी-कभी वह भी दिख जाता था। आते-जाते। ठेला पीछे या बगल में कहीं किनारे लगाये। ठेले पर अगर माल लदा हो तो जल्दी निकल जाता और खाली होता तो कुछ देर ज्यादा रुकता। फिर चला जाता। कभी-कभी यह भी होता कि कई दिन कहीं नजर नहीं आता। मैं भी अपने काम-धाम में लगा होता, अखबार के अलावा कई झमेले थे। निपटाने-सुलझाने पड़ते। बीच में कभी-कभी अखबार से फोन आ जाता। वक्त निकाल कर जाना पड़ता। ऐसा खासकर किसी बड़े नेता की होने वाली सभा के वक्त होता। जहाँ तक ऐसी सभाओं का सवाल था– वे होती रहती थीं। पक्ष-विपक्ष दोनों के नेताओं की। सभा होती। रैली निकलती। शहर उनके उनके हँसते-मुस्कराते चेहरों वाले बैनर-पोस्टर से पट जाता। पार्टियों के झंडे-झंडियाँ टँग जातीं। डीजे पर 'लाड़ले', 'जनप्रिय', 'युवा सम्राट', 'जनसेवक', 'देश का भविष्य' टाइप के नेता की अगवानी और सभा-रैली की मुनादी होने लगती। दीवारों पर नारे चमकने लगते! अलग-अलग इबारतों में! लेकिन, आमतौर पर एक-जैसी। आने वाले नेताओं के लगवे-भगवे और पार्टी कार्यकर्ताओं की भागदौड़ बढ़ जाती। स्वागत समितियों के सदस्यों के चेहरे भी पोस्टर बैनरों पर जगमगाने लगते। क्षेत्र, प्रदेश या देश के 'लाड़ले' नेताओं की तरह शहर के भी स्थानीय ऐसे 'लाड़ले', 'युवा हृदय सम्राट', 'समाजसेवी', 'कर्मठ', 'जुझारू' नेता होते। वे बैनर-पोस्टर पर नजर आने लगते।

इस बार भी ऐसा ही कुछ हो रहा था। एक बड़े नेता आ रहे थे। साथ में उनकी पार्टी के अध्यक्ष भी। खबर अखबारों में थी। 'शहर की खबर' में भी दो बार लग चुकी थी। शहर के आजाद चौक को विशेष तौर पर सजाया गया था। चौक शहर के बीचोंबीच था और सारी सभाएँ वहीं होती थीं। चौक ज्यादा बड़ा नहीं था, लेकिन शहर के हिसाब से काफी था! चौक के आस-पास भी जगहें थीं। ज्यादा होने पर लोग वहाँ बैठ जाते थे। बहरहाल, वहीं सभा होना थी। सभा स्थल पर होर्डिंग लगे थे। विनम्र-मुस्कराती मुद्राओं वाले पोस्टर चिपके थे। बैनर टँगे थे। शहर की सारी खास सड़कें भी इन्हीं से पटी पड़ी थीं। पार्टी के झंडे लहरा रहे थे। मैंने एक बार सभा-स्थल की व्यवस्था वगैरह देखने के लिए चक्कर लगाया था। बीच में दो-एक आयोजक मिल गये थे, उनसे भी थोड़ा-बहुत पूछताछ लिया था! पोस्टर-बैनर वगैरह पर नजर डाली थी और निकल आया था। घर का थोड़ा-सा काम निपटाना था। रास्ते में राम मन्दिर के मोड़ पर वह मिल गया था। वह भी शायद उधर ही कहीं से आ रहा था, माल खाली कर। मुझे देख कर मुस्कराया नहीं था, जैसा कि अक्सर करता था। मैं जरूर मुस्कराया था। और आगे बढ़ने वाला था कि उसी ने आवाज दी थी। मैंने थोड़ा आगे जाकर गाड़ी रोक दी थी। वह तेजी से मेरे पास पहुँचा था।

''माफ करना बाबूजी, आपको बीच में रोका। बस एक बात पूछना थी।''

''पूछो!'' मैंने कहा। उसने एक बार मन्दिर वाले चौराहे पर लगे होर्डिंग को देखा।

''आप ये पोस्टर-बैनर वगैरह देख रहे हैं। बस, इतना पूछना था कि इनमें जो हँसते-मुस्कराते चेहरे दिखायी दे रहे हैं, ये साले ऐसे कैसे हँस लेते हैं! क्या सच में इन्होंने अपनी सारी शरम बेच खायी है!'' उसकी आवाज कहीं किसी बहुत पुराने अन्धे भुतहा कुएँ से आयी हुई लगी थी। चेहरे पर पता नहीं क्या था!

पूछकर एक बार मेरा चेहरा देखा था। कुछ पल चुप खड़ा रहा था। फिर कस के थूका था। हमेशा की तरह।

''छोड़िये, रहने दीजिए। आपको शायद देर हो रही होगी, जाइये!'' उसने कहा था और धीरे-धीरे आगे बढ़ गया था।

अपना खाली ठेला लिये हुए।

155, एल.आई.जी./मुखर्जी नगर,
देवास, म.प्र. 455001

❑ कहानी

चक्रवात

रमाकान्त श्रीवास्तव

लफ्फाजियों से मुझे चिढ़ है।

देखा जाए तो देश के एक जिम्मेदार और समझदार नागरिक होने के नाते यह मेरा अधिकार है। कामकाज छोड़ कर किसी की भी बकबक क्यों सुने कोई!

कोई मुझे यह समझाने की कोशिश करे कि इस दौर में कोई भी अच्छा काम ईमानदारी या सदाशयता से किया जा सकता है या किया जा सकता है तो मेरी इच्छा होती है कि उसके पिछवाड़े जाकर देखूँ कि उसकी पूँछ तो नहीं है। छोटी-सी ही सही, लेकिन वह अभी मनुष्य की कोटि में गिनाया जा सकता है या नहीं? पन्द्रह वर्षों से भी अधिक समय तक जीवन बीमा कम्पनी में मैनेजरी की है। झक तो मारी नहीं है! इतना जरूर मानता हूँ कि कभी-कभार सज्जन कहे जाने वाले लोग नि:स्वार्थ भाव से कुछ कर-धर लेते हैं वर्ना तो...! आप खुद ही देखें कि अखबार पढ़ने वालों की अन्दरूनी इच्छा उसमें कुछ बुरी खबर पढ़ने की होती है। यदि उत्तेजना पैदा करने वाला कोई समाचार उसमें न हो तो पढ़ने वाले को कोई मजा आयेगा? नहीं न! कुछ बुरा, भ्रष्ट और अश्लील न हो और 'सबकुछ ठीक-ठीक है' किस्म के समाचार हों तो पढ़ने वाले को लगेगा कि उस दिन पेपर खरीदने के पैसे कचरे की टोकरी में चले गये। अपना सीधा-सादा हिसाब है कि अखबार खरीदा है तो मजा मिलना चाहिए।

मेरे एक मित्र तो कहते हैं कि बलात्कार की कोई न कोई घटना हर दिन होती है और वे सबसे पहले उसी को पढ़ते हैं। धीरे से उन्होंने बतलाया कि प्रिंट मीडिया हो या इलेक्ट्रॉनिक, बलात्कार, डाका, मूड़-फुटौव्वल की खबरें इस तरह पेश की जाती हैं कि उनकी इच्छा भी एकाध बार कुछ कर डालने की हो जाती है। अब यह तो जाहिर हो चुका है कि टीआरपी किस तरह बढ़ाई जाती है ताकि चैनल की कमाई हो। परम शातिर अजय गोस्वामी किस फूहड़ ढंग से चीखता-चिल्लाता है! वैसे ही नकली उत्तेजना में नाक फुलाकर मूर्खता-भरी बातों को परोसने वाली शोभना कश्यप टीवी देखने वालों को बेवकूफ बनाती है। सरकार खुश और उसकी बल्ले-बल्ले। मानता हूँ कि कुछ शातिर तो हम भी हैं पर अपना शातिरपन ऋषि के आत्मज्ञान की तरह है।

मुझे परेशानी है तो बस अपने दोस्त जयशंकर से। छात्र-जीवन से ही हम लोग मित्र रहे हैं। एक-दूसरे को समझदार बनने की सलाह देते हुए हमारी दोस्ती अभी भी कायम है। चार नगरों से संस्करण प्रकाशित होने वाले अखबार के मालिक और प्रधान सम्पादक होने के साथ ही सामाजिक कार्यक्रमों को ईमानदारी से संयोजित करने में जुट जाने की उसकी आदत मेरी समझ से बाहर है। जनाब का कोई दूसरा व्यवसाय भी नहीं है, फिर भी जनकल्याण को अपना मकसद मानना हिपोक्रेसी नहीं तो और क्या है! अरे भाई लोगों की भलाई करने से कौन रोकता है, लेकिन उसमें मलाई खाने का प्रावधान भी तो हो। यार, अखबार और चैनल तो बड़े व्यावसाइयों के खेल हैं। उसके जरिये मौके-बे-मौके सरकार को उँगली करते रहो ताकि दबदबे की खुराक मिलती रहे। बड़े-बड़े विज्ञापनों का फायदा लो और पाठकों को राजनीति और चोरी-चकारी का गोबर परोसो। तथाकथित विद्वानों के टाँई-टाँई-ठुस्स किस्म के बौद्धिक आयोजनों के कटे-फटे समाचारों का नाश्ता जनता को सुबह की चाय के साथ उपलब्ध करवाओ।

वह रविवार का दिन था– चमकीली धूप और हवा के हल्के झोंकों से भरा-पूरा। काम की व्यस्तता न होने का पूरा मजा ले रहा था, तभी जयशंकर का फोन आया कि चले आओ, नाश्ता साथ ही करेंगे। सामान्य-सी बात थी। हमारी इस तरह की मुलाकातें होती रहती हैं।

हलुआ और गरम पकौड़े के साथ चाय पीने का आनन्द ले रहा था कि जयशंकर ने कहा, ''हम एक बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम के संचालन का भार ले रहे हैं। सोचा कि तुम्हें बतला दूँ।''

कुछ क्षणों तक चुप रहकर मैंने कहा, ''यार, हमेशा कोई न कोई लफड़ा पालते रहते हो। तुमको तो चुनाव नहीं लड़ना न!''

''मजाक छोड़ो। एक बहुत महत्त्वपूर्ण योजना है। काम बड़ा है, इसलिए मुझे सभी मित्रों का सहयोग चाहिए।'' जयशंकर ने गम्भीरता से कहा।

मैं घबरा-सा गया। मुँह का जायका खराब हो गया। मेरे सामने जब कोई 'बड़ा काम' और 'महत्त्वपूर्ण' जैसे शब्द बोलता है तो मुझे लगता है कि किसी ने मेरे सिर पर पत्थर पटक दिया है। पेट में संचित घाट-घाट का पानी गुड़गुड़ाने लगता है। मैंने बेमन से कहा, ''अब कौन-सा हंगामा करने की चुलुक हो रही है तुम्हें?''

''तुम्हारा मतलब है कि हर काम केवल अपने मतलब का ही होना चाहिए?''

''ये मतलब नहीं, लेकिन जबरन सिर पर बोझ बढ़ाना कोई अक्ल का काम भी नहीं है।''

जयशंकर ने थोड़े तैश में कहा, ''क्या तुम्हें मनुष्य की अच्छाई पर भरोसा नहीं है।''

''नहीं, ऐसी बात नहीं है, लेकिन खास भरोसा भी नहीं रह गया है।'' बचाव करते हुए मैंने अपना सच कहा, ''खैर तुम बतलाओ कि क्या है तुम्हारे दिमाग में?''

कुछ देर तक चुप रहने के बाद जयशंकर बोला, ''तुम्हें यह समझाने की जरूरत नहीं है कि दुनिया-भर में बच्चों की दुर्गति है– भूख से, हिंसक व्यवहार से। बड़े पैमाने पर उनका दैहिक शोषण भी होता है। हमारे देश में भी इसके आँकड़े भयानक हैं।''

''सो तो है!'' मैंने स्वीकार किया, ''आदमी हैवान बन गया है। क्या कर सकते हैं!''

जयशंकर ने अजीब नजरों से मेरी तरफ देखकर कहा, ''यानी तुम्हारे हिसाब से कुछ भी नहीं किया जा सकता?'' कुछ देर चुप रह कर उसने कहा, ''खैर, छोड़ो इस बात को। मैंने जो काम हाथ में लिया है, उसे सुनो और अपनी राय दो।''

''हाँ, सुन रहा हूँ।'' मैंने कहा, लेकिन मेरे मन में न तो उत्साह था और न ही कोई जिज्ञासा। मेरी नीति है कि तरह-तरह की बातें की जाती हैं, उन्हें धैर्यपूर्वक सुन लो। क्या जाता है अपना!

''हम अपने फाउंडेशन 'हौसला' द्वारा यूनीसेफ के सहयोग से प्रदेश में बाल पत्रकार प्रशिक्षण कार्यक्रम का संचालन करने वाले हैं।'' जयशंकर ने कहा।

''ये क्या है यार! तुम भी...''

''सुन तो लो यार। मानवाधिकार की तरह ही बाल अधिकार

की अवधारणा भी होती है या नहीं?''

''हाँ होती है...'' मैंने कहा, ''तो क्या परेशानी है!''

''तो... इसी बाल अधिकार की अवधारणा का विस्तार बच्चों द्वारा संचालित अखबार के माध्यम से किये जाने की योजना है। हमारा फाउंडेशन इस योजना की संरचना को तैयार करेगा, लेकिन काम बच्चों के द्वारा ही किया जायेगा...''

''...और इसका खर्च कौन वहन करेगा?'' मैंने जयशंकर की बात काटते हुए पूछा। मेरी जिज्ञासा ने मेरे मन में हलचल पैदा कर दी थी। साथ ही यह विचार भी अंकुरित हो रहा था कि मुझे इस जाल में नहीं फँसना है। मैं शान्तिप्रिय आदमी हूँ। इस झम्मड़ में नहीं फँसना है। इस लफड़े में घुसने से मुझे क्या मिलना है।

जयशंकर मेरे चेहरे की ओर गहरी नजर से देखते हुए बोला, ''इस प्रोजेक्ट को यूनीसेफ फाइनेंस करेगा। यूएनओ ने बाल अधिकार का घोषणा-पत्र जारी किया है और दुनिया के सौ देश उसे लागू करने जा रहे हैं।''

जयशंकर कुछ देर चुप रह कर मेरे चेहरे की ओर देखता रहा। मैंने जान-बूझकर अपने चेहरे को सपाट बनाये रखा। कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। जयशंकर ने अपनी बात आगे बढ़ायी, ''हम अपने उपक्रम में बाल पत्रकारों को प्रशिक्षण देने के अलावा सोलह पृष्ठों का टेबलाइड साइज का एक अखबार भी प्रकाशित करेंगे जिसकी आवृत्ति पाक्षिक होगी। हाँ-हाँ... तुम जो पूछना चाहते हो वह बतला दूँ कि इसका सारा खर्च यूनीसेफ ही करेगा। पत्र के संवाददाता बारह से सोलह वर्ष के किशोर होंगे। हम उन्हें बकायदा बाल पत्रकार का प्रमाण-पत्र देंगे। उनके द्वारा भेजे गये समाचारों के आधार पर जो अखबार प्रकाशित होगा, उसका नाम होगा 'बालशक्ति' और वह अपने आपमें स्वतन्त्र इकाई होगा।''

''ऐसा अखबार बिकेगा? कौन खरीदेगा उसे?'' मेरे स्वर में व्यंग्य था।

''इसकी प्रतियाँ प्रदेश में नि:शुल्क दी जाएँगी। देखो, मैं परसों यूनीसेफ की प्रतिनिधि नन्दिनी जी से मिलकर पूरे डिटेल्स पर उनसे चर्चा करूँगा। वैसे उनकी सैद्धान्तिक स्वीकृति मिल चुकी है। मैं चाहता हूँ कि तुम और मेरे सहयोगी चांडक जी मेरे साथ चलें। नहीं-नहीं... इंकार की कोई छूट तुम्हें नहीं है।'' जयशंकर ने मुझे बोलने का मौका ही नहीं दिया।

मुझे पसीना आ गया। जयशंकर को समझाने की कोशिश भी की, ''अरे भैय्ये, कमाने-धमाने के लिए इतना फैलो तो ठीक, वर्ना ऐसे काम में काहे मूड़ घुसेड़ रहे हो और तुम्हारा शौक है तो करो जो करना है, मुझे क्यों घसीटते हो?''

पर जयशंकर तो जयशंकर!

घर लौट कर भी मैं परेशान रहा। मैं जानता था कि मुझे जयशंकर का साथ देना ही होगा, जबकि साफ नजर आ रहा था कि चारों तरफ का माहौल दिखावे से लबालब भरा हुआ है। खूबसूरत बातों के कबूतर चारों तरफ उड़ान भर रहे हैं जिनके बीट से जमीन रंग-बिरंगी हो रही है। गन्दी बस्तियों को नजरों से छिपाने के लिए ऊँची दीवारें उठाई जा रही हैं। उन पर सुन्दर चित्र बनाये जा रहे हैं, जिनमें कहीं नन्दनवन की हरियाली में पंछी चहक रहे हैं, कहीं स्वच्छ पानी के झरने में सुन्दरी नहा रही है। शहर की एक दीवार पर फूलों के पौधों के बीच की जगह पर स्वच्छता अभियान के टायलेट के दरवाजे को खोलते हुए महिला को चित्र में दर्शाया गया है जो वस्त्रों से मजदूरनी लग रही है और चेहरे से मीना कुमारी। सरकारों का दावा है कि इस तरह वह युवा कलाकारों को रोजगार दे रही है।

यूनीसेफ की प्रतिनिधि से मिलने के लिए जयशंकर अपने खास इन्तजाम अली चांडक जी और मुझे अपने साथ ले गया। मुझे चांडक जी दिलचस्प और योग्य व्यक्ति लगे, जिनसे मेरी जल्दी ही आत्मीयता हो गयी। बोलते कम हैं पर बात करते हैं बिना किसी घुमाव-फिराव के। कभी-कभी तो एकदम लट्ठमार की तरह, सामने वाले को अच्छी लगे, बुरी लगे उनकी बला से! गनीमत है कि मुस्कराना जानते हैं। उनकी सहायता से जयशंकर ने पूरा होमवर्क किये हुए उपक्रम का प्रारूप पेश किया। मेरी भूमिका हुंकारी भरने वाले रागी की थी।

मैं योजना का स्वरूप जानकर भौंचक्का था। प्रान्त के अठारह जिलों के सौ विकास-खंडों में बारह से सोलह वर्ष के बाल पत्रकारों को प्रशिक्षण दिया जाना था, जो संवाददाताओं की भूमिका का निर्वाह करेंगे। हर विकास-खंड से अधिकतम दस रिपोर्टर तैयार किये जाएँगे। उन्हें तैयार करने का दायित्व हर विकास-खंड के दो स्रोत व्यक्तियों और दो प्रशिक्षकों पर होगा। 'बाल शक्ति' अखबार में एक सम्पादक और एक सह-सम्पादक होंगे जो भेजे गये संवादों के चयन और सुधार का कार्य करेंगे।

मैं पूरी सजगता से इस उपक्रम के आर्थिक पहलू पर नजर रख रहा था। सम्पादक, उप-सम्पादक, एकाउंटेंट और सुपरवाइजर को टोकन पेमेंट की व्यवस्था थी। रिसोर्स पर्सन के लिए यात्रा खर्च। बाल पत्रकारों और अन्य व्यक्तियों की बैठकों में लगने वाली सत्कार राशि का प्रावधान किया गया था। इसके अलावा कुछ अतिरिक्त राशि। यानी, धत्त तेरे की! ऊँट के मुँह में जीरा। बेगारी के काम के लिए ऐसा उत्साह दिखाने वाले को मैं 'अति विचित्र कछु बरनि न जाई' की कोटि में रखता हूँ, पर जयशंकर

तो जयशंकर! उसने पूरे उपक्रम में विचार-विमर्श के लिए एक कोर कमेटी भी गठित की। यहाँ तक तो ठीक था, लेकिन उस कमेटी में मेरे न चाहने पर भी जयशंकर ने मेरा नाम घुसेड़ ही दिया। मेरे जैसे शान्तिप्रिय व्यक्ति के लिए यह चिन्ता की बात थी। यह भी ख्याल में था कि इतना सबकुछ करना शायद सम्भव भी नहीं हो सकेगा, लेकिन जयशंकर ने अपने सारे साधनों का इस्तेमाल करते हुए पूरी ताकत से काम करके उपक्रम का पूर्ण ढाँचा तैयार कर लिया। उसकी पत्नी ने अखबार के सम्पादक का भार सम्हाला और श्रीमती चांडक सह-सम्पादक के रूप में साथ जुड़ गयीं।

लगभग दस दिनों के बाद जयशंकर ने कोर ग्रुप की बैठक बुलायी। मुझे मिलाकर बारह लोग थे। उनमें चार लोग ऐसे भी थे जिनके भीतरी अच्छेपन की जानकारी मुझे थी, फिर भी उन्हें लगभग अच्छे लोगों में शुमार किया जा सकता है। बैठक में यह जानकारी मिली कि योजना की सैद्धान्तिक स्वीकृति के तुरन्त बाद जयशंकर ने अपने नेटवर्क को सक्रिय कर दिया था। जैसा कि उचित था, बाल पत्रकार प्रशिक्षण के लिए जनजाति, अनुसूचित और वंचित समुदाय के किशोरों के चयन को प्राथमिकता दी गयी थी। आश्चर्यजनक रूप से उनमें लगभग पैंतालीस प्रतिशत लड़कियाँ थीं। शासकीय स्कूलों के छात्रों को अधिक शामिल किया गया था। चयन में उनके शिक्षकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। कुल जमा, मुझे लगा कि खानापूर्ति का बारीकी से ख्याल रखा गया था।

कोर ग्रुप की बैठक में जयशंकर ने उपक्रम के सम्बन्ध में सारी बातें बतलायीं। जयशंकर का भरतवाक्य था– समाज के प्रति संवेदनशील आप-जैसे सज्जन यही समझें कि हमारी संस्था आप लोगों के काम को ही आगे बढ़ा रही है। लोग दिव्य तरीके से मुस्कराये। मैं भी। ग्रुप में शामिल विधायक जी प्रसन्न हुए। जयशंकर ने घोषणा की कि ठीक दस दिनों के बाद बाल शक्ति के पहले अंक का लोकार्पण किया जायेगा। उस दिन कोर ग्रुप के सभी सदस्यों की उपस्थिति से सभी का हौसला बढ़ेगा। उस दिन योजना से जुड़े सभी लोग एकत्रित होंगे। मतलब... साथी हाथ बढ़ाना साथी रे...

...और फिर वह दिन भी आ गया।

जयशंकर के सम्बन्धों का दायरा आश्चर्यजनक रूप से बड़ा है यह तो मैं जानता था, लेकिन उसके द्वारा इतना कुछ भी किया जा सकता है! मैं अचम्भित था। उद्योगपति ओसवाल के पाँचसितारा होटल 'वृन्दावन' के विराट परिसर के आधे हिस्से में एक खूबसूरत बौनी-सी दीवार बनाकर उतनी ही शानदार वातानुकूलित, पाँचसितारा सुविधाओं से सम्पन्न एक धर्मशाला 'श्रीयमुनातट' सुशोभित है। यह धर्मशाला प्रभावशाली लोगों के धार्मिक आयोजनों, विवाहोत्सव आदि के लिए दी जाती है। यह मालिक की लाभकारी सम्बन्धों की यज्ञशाला है।

उसी विशाल भवन के वाम पार्श्व का खासा बड़ा हॉल और कुछ कमरे जयशंकर को सौहार्द्रवश मिल गये थे। सभा भवन पूरी तरह भरा हुआ था। सात सौ के आसपास तो बाल पत्रकार थे जो अपने प्रशिक्षकों के साथ उत्सुक निगाहों से चारों तरफ देख रहे थे। उल्लास की चमक के साथ उनके चेहरों पर मासूमियत भी थी। सम्पादक मंडल की सदस्यों और चांडक जी की मुख-मुद्राओं से प्रसन्नता छलक रही थी। कुछ यों कि मैं उसे अपनी अंजुरि में भर सकता था। बाल शक्ति की पन्द्रह हजार प्रतियाँ छप कर तैयार थीं। यानी यह सबकुछ किया जाना सम्भव था! मेरे लिए तो यह कल्पनातीत था! लोगों के स्वागत में दौड़-धूप करता हुआ जयशंकर चुस्त-दुरुस्त और तरोताजा था! अपनी व्यावहारिक बुद्धि का इस्तेमाल करते हुए जयशंकर ने एसपी को कार्यक्रम का मुख्य अतिथि बनाया था। हँसमुख और ऊर्जावान ऑफिसर ने सहयोग का वादा किया। यूनीसेफ की प्रतिनिधि और एसपी ने बीस बाल पत्रकारों के गले में आईकार्ड पहनाये। सभा भवन में जो तालियाँ बजीं, वे किराये की नहीं थीं।

सम्पादक श्रीमती जयशंकर ने सम्पादन की चुनौती और बाल पत्रकारों के उत्साह की चर्चा करते हुए धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए घोषणा की कि एक घंटे के अन्तराल के बाद लंच की व्यवस्था है। विधायक जी काम की व्यस्तता के कारण नहीं आ सके हैं, लेकिन उनके सौजन्य से लंच के पैकेट भेजे जा रहे हैं। यह आकस्मिक मध्यान्तर था। लंच के बाद थोड़ी देर के लिए बाल पत्रकारों और प्रशिक्षकों के साथ सम्पादकों की अनौपचारिक बातचीत रखी गयी थी।

मैं चांडक जी के इन्तजाम से बहुत प्रभावित हुआ। चाय-पानी, गुलदस्तों से लेकर पिन तक की व्यवस्था थी, वह भी त्रुटिहीन। आधा घंटा ही बीता होगा कि मोबाइल फोन पर बात करते हुए जयशंकर हड़बड़ी में आया और उसने कहा, ''चांडक जी, छोटी-सी समस्या आ गयी है। अपने चार बाल पत्रकारों को पिपरिया थाने में रोक लिया गया है। आप सुशील के साथ चले जाइये। देखिये क्या माजरा है।''

मैं इतना गिरा हुआ आदमी नहीं हूँ कि दूसरे की दिक्कत पर इसलिए खुश हो जाऊँ कि किसी बन्दे ने मेरी बात को सही

नहीं माना, लेकिन मन के एक कोने से आवाज जरूर आई कि अब मजा लो बच्चू! शुरू हो गयी न परेशानी!

खैर, जाना तो था ही सो चले गये। थाना एकदम थाने की तरह था जिस पर लिखा था– देशभक्ति-जनसेवा। देश के शहरी इलाकों को छोड़ दें तो बाकी जगहों पर थाने की शक्ल-सूरत और मनहूसी एक-जैसी होती है। थानेदार बरामदे में ही टेबल-कुर्सी लगवा कर अखबार पढ़ रहा था। हमारी कार ने थाना परिसर में प्रवेश किया तो उसने चेहरे पर से अखबार हटा कर विचित्र-सी विरक्ति-भरी मुद्रा से हमारी ओर देखा। उसकी कुर्सी से थोड़ा हटकर बाल पत्रकार पालथी मार कर बैठे थे।

बरामदे में हमारे पहुँचते ही लड़के उठ कर खड़े हो गये। एक बार लड़कों पर निगाह डाल कर थानेदार ने हमारी ओर देखकर पूछा, ''जी कहिए?''

चांडक जी ने महीन मुस्कान के साथ मुझे देखा, फिर थानेदार से पूछा, ''क्या आपके थाने में शरीफ आदमियों के बैठने के लिए कुर्सियाँ नहीं हैं?''

''नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। अरे रामसिंग, दो कुर्सियाँ लाओ यहाँ। आप लोगों का परिचय?''

''सामान्य रूप से कहूँ तो हम लोग भारत के नागरिक हैं। रुकिये... बतला रहा हूँ। ये मेरे मित्र हैं सुशील वर्मा, एलआईसी के मैनेजर हैं। मैं आर.के. चांडक हूँ। जनबन्धु पेपर ग्रुप का सीए। यूँ इस वक्त हम लोग इन लड़कों के गार्जियन के रूप में हाजिर हुए हैं।''

थानेदार ने कुछ अजीब नजरों से हमें देखते हुए आवाज में हल्की-सी गर्मी लाकर कहा, ''गार्जियन! आप लोग इनके गार्जियन कैसे हुए?''

''वो इस तरह कि प्रान्त की राजधानी में एक कार्यक्रम चल रहा है। आयोजन हमारा फाउंडेशन कर रहा है, यूनीसेफ के सहयोग से...''

''किसके सहयोग से?'' थानेदार ने बात काटी।

''जी यूनीसेफ के सहयोग से।'' चांडक जी मुस्कराते हुए हल्के व्यंग्य-भरे स्वर में बोले, ''आप शायद यूएनओ के नाम से परिचित होंगे। यूनीसेफ उसी की एक संस्था है जो बाल अधिकारों से सम्बन्धित काम करती है। तो सर जी, उसी के सहयोग से एक अखबार निकाला जा रहा है। ये बच्चे उसके पत्रकार हैं।''

''क्या? पत्रकार! इन लौंडों-लपाड़ों को आप पत्रकार कहते हैं?'' थानेदार गुर्राया।

अब चांडक जी ने अपनी आवाज कुछ ऊँची की, ''ये लौंडे-लपाड़े नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण बाल पत्र से जुड़े संवाददाता हैं।'' फिर उन्होंने मुड़कर बच्चों से पूछा, ''क्या किया था तुम लोगों ने।''

थानेदार कुछ बोलने को ही था, लेकिन उसके पहले ही एक लड़के ने कहा, ''सर, हम लोग अपनी साइकिलें यहीं खड़ी करके कैम्पस के हैंडपम्प से पानी पी रहे थे बस। हम घर लंच के पहले लौटना चाहते थे।''

''चुप रहो!'' थानेदार ने हस्तक्षेप किया, ''देखिये, कोई भी थाने के कैम्पस में घुस कर कुछ भी करने लगे तब तो अनुशासन ही खत्म हो जायेगा। गले में कार्ड लटका कर कोई भी कहीं भी घुस जायेगा?''

''ओ हो... तब तो आप यह भी बतला दें कि इन पर किस धारा में इल्जाम लगा रहे हैं?''

चांडक जी ने तेजी दिखलायी जो थानेदार को नागवार गुजरी। उसने टेबल पर हाथ पटक कर कहा, ''देखिए...''

''आपको जानकारी दे दूँ!'' चांडक जी ने उसकी बात काटी, ''इनके जो आईकार्ड उतरवा कर आपने टेबल पर रखे हैं वो थोड़ी देर पहले ही हमारे आयोजन के चीफ गेस्ट एसपी साहब ने उन्हें पहनाये थे।''

''क... क... क्या...? यानी एस.पी. साहब ने... यानी कि... मतलब कि...'' थानेदार एकदम हड़बड़ा गया।

''भरोसा न हो तो आपसे बात करवा दूँ...?'' चांडक जी ने 'वेलकम' फिल्म के हीरो अक्षय कुमार की स्टाइल में जेब से मोबाइल निकाला। उसी समय थाने के फोन की घंटी बजी। थानेदार ने रिसीवर उठाया और दूसरे ही क्षण कुर्सी से उठकर सावधान की मुद्रा में कहा, ''सर, जय हिन्द सर!''

चांडक जी मेरी तरफ देखकर मुस्कराये।

''सर... सर... नहीं सर। थोड़ी गलतफहमी थी। सर ख्याल रखूँगा। जय हिन्द सर!'' थानेदार के चेहरे का रंग उड़ गया था। अब वह पुलिस मैन से लगभग आदमी बन गया था। बोला, ''आइ ऐम सॉरी सर। गलती हो गयी। आपसे निवेदन है कि इस घटना को यहीं खत्म समझिए। प्लीज...''

''...तो फिर आप अपने ही हाथों से इनके आईकार्ड इनके गले में पहना दीजिए।''

''श्योर ...श्योर सर। बच्चो इधर आओ।''

उद्घाटन-सत्र का यह मिनी कर्मकांड पुनः सम्पन्न हुआ। थानेदार साहब हमारी वापसी के समय कैम्पस के गेट तक आये। चलते-चलते चांडक जी ने टीप जमायी, ''देखो बच्चो, तुम लोग पत्रकार हो। किसी दिन इंस्पेक्टर साहब का इंटरव्यू लेने जरूर आना।''

''हाँ... हाँ... क्यों नहीं! जरूर आना...'' थानेदार साहब ने

हथेलियाँ मलते हुए मुस्कराते हुए कहा।

हम जब हॉल में पहुँचे तो तालियाँ बजाकर हमारा स्वागत किया गया। माहौल टनाटन्न हो गया। चारों लड़कों को साथियों ने घेर लिया।

वे हीरो थे।

मेरी और जयशंकर की सोच में जैसे एक अदृश्य द्वन्द्व जारी था। मेरा आश्चर्य बढ़ता जा रहा था। जयशंकर का काम शानदार तरीके से चल रहा था। उसने लय पकड़ ली थी। मैं स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि हम अभी जिस समाज में जी रहे हैं, वहाँ कोई भी सार्थक काम बिना रुकावट के लगातार चलाया जा सकता है। सलीके का काम करते ही आप फँसा दिये जायेंगे। क्या हुआ सोनू सूद का! वाई कैटेगरी सुरक्षा पाने के लिए कुछ और ही करना पड़ता है। समाज में टुच्चापन तेजी से बढ़ रहा है। इसके ऊपर गजब की विनम्रता की कोटिंग चढ़ाने में आप लोगों ने सिद्धहस्तता पा ली है। कोई भली बात कहता है तो उस पर सन्देह होता है। कोई झुक कर हाथ जोड़ता है तो मेरा मन घबराहट से भर जाता है। इस अदा में मैं खुद कुशल हूँ।

कुछ लोग तो यह मानते हैं कि अभिनय कला, मंच सज्जा, संवाद रचना और वस्त्र विन्यास के महत्त्वपूर्ण पुरस्कार अभिनेताओं को नहीं, राजनेताओं को मिलना चाहिए। 'बाल शक्ति' पत्र की प्रतियों की संख्या इक्कीस हजार हो गयी थी। पूरे प्रदेश में उसका नि:शुल्क वितरण हो रहा था। बाल पत्रकारों की संख्या बारह सौ तक पहुँच गयी थी। उनमें गजब का आत्मविश्वास पैदा हुआ था। खासतौर पर वंचित समुदाय के बाल पत्रकारों के चेहरों पर एक बदलाव उभर रहा था। लफंगों के दम पर दबंगई और राजनीति करने वाले कई बन्दे तक इस उपक्रम की तारीफ करने लगे थे। हालाँकि सुनने में यह भी आ रहा था कि कई सज्जन पुरुष बदलाव की इस आहट से परेशान थे। जहाँ तक मैं अपनी मनोदशा को तौलने की कोशिश करता तो पाता कि वहाँ 'मेरा मन डोले मेरा तन डोले' की धुन बज रही थी।

बाल पत्रकार तो कमाल के निकले!

उनके द्वारा भेजी गयीं रिपोर्ट खट-मिठ्ठी, और कभी-कभी तीखी भी होती थीं। उनके भेजे गये कई समाचारों में साहस और समझदारी मुझे अचम्भे में डाल रही थी। क्या बच्चे अब सचमुच इतने समझदार हो गये हैं या फिर बदलते हुए समय को मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। कुछ ने तो पंचों-सरपंचों से साक्षात्कार लिये। पिपरिया के थानेदार से भी एक बाल पत्रकार ने पूछा था कि बाल अधिकारों के हनन पर पुलिस क्या कार्यवाही करती है? उन्होंने अपनी बाल बुद्धि से जो साक्षात्कार लिये, वे आज के मीडिया के एंकरों द्वारा लिये जाने वाले फूहड़ इंटरव्यूज से अधिक सन्तुलित थे। न्यू इंडिया के हालात पर उन्होंने कई सवाल उठाने की जुर्रत की थी। मसलन– बच्चों में गुटका खाने की आदत के लिए जिम्मेदार कौन है?

सविता पढ़ाई के साथ मजदूरी करती है।

किशन प्लास्टिक और पन्नी बेचकर पढ़ाई करता है।

गाँव का गुंडा बल्लू स्कूल की लड़कियों को छेड़ता है।

एक कस्बे आरंग से बाल पत्रकार ने समाचार भेजा कि एक आदमी ने शराब पीकर अपनी औरत और आठ साल के बच्चे को सरेआम बहुत पीटा। 'बाल शक्ति' में यह समाचार प्रकाशित होते ही वह दारूखोर पौवा चढ़ाकर बाल पत्रकार के घर गाली-गलौज करने पहुँच गया। उसका जाति अभिमान फन उठाकर फुँफकार रहा था। राजू मेश्राम की यह हिम्मत कि वह रामजी यादव के खिलाफ कुछ लिखे! पर बात उल्टी पड़ गयी। पड़ोसियों ने दरुआ को जमकर फटकार लगाकर हड़का दिया और राजू से कहा– तुम्हें घबराने की जरूरत नहीं है। तुम तो दरवाजे पर बाकायदा नेम प्लेट लगाओ। अब राजू मेश्राम की एक हैसियत बन गयी थी। पत्रकार होने की।

मैं महसूस कर रहा था कि बच्चों के अखबार का असर मेरी उम्मीद से अधिक हो रहा था। पानी पर उतराते तेल की तरह चर्चा चारों तरफ हो रही थी, लेकिन संशय और भुनभुनाहट-भरी असहमतियों की अन्तर्धाराएँ भी थीं। भूलाटोला में एक पंडितजी बाल पत्रकारों के प्रशिक्षक से उलझ गये।

हुआ यूँ कि पंडित जी रामभरोसे होटल के चबूतरे के सामने खड़े गरम जलेबी खा रहे थे कि उन्हें सड़क पर आते हुए प्रशिक्षक बलराम साहू दिख गये जिन पर वे दो-तीन दिनों से भन्नाये हुए थे। उन्होंने साहू जी का रास्ता रोक कर गुर्राकर पूछा, ''आप ही बाल पत्रकारों के प्रशिक्षक हैं?''

''जी हाँ, कहिये? मैं ही हूँ...'' साहू ने कुछ आश्चर्यपूर्वक उन्हें देखते हुए कहा।

पंडित जी गरजे, ''आप बच्चों को बिगाड़ रहे हैं। उन्हें उद्दंड बना रहे हैं। वो क्या कहते हैं कि आपने तमाशा बना रखा है।'' गुस्से से वे यूँ थरथरा रहे थे कि जलेबी की चाशनी होठों के कोरों से निकलकर ठुड्डी पर आ गयी।

साहू जी बोले, ''बात क्या है? मैं आपका मतलब नहीं समझा।''

''मतलब नहीं समझे हैं...'' पंडित जी हाथ फटकारते हुए

चीखे, ''जब से मेरा लड़का आपकी संगत में पड़ा है, वह बिगड़ गया है। बात-बात पर घर में बहस करने लगा है।''

गर्जन-तर्जन करते हुए वे साहू जी का कालर पकड़ने के लिए उद्धत हुए, पर उनकी कद-काठी देखकर वह कार्यक्रम स्थगित किया। भीड़ एकत्र हो गयी, जैसे तमाशा हो रहा हो। लोगों ने बीच-बचाव किया और उन्हें शान्त होने के लिए कहा। भीड़ की सहानुभूति साहू जी की ओर देखी तो शान्त तो नहीं हुए पर गरियाते-फिफियाते हुए वहाँ से चले गये। दरअसल उनके बाल पत्रकार बेटे ने घर में लड़कियों की आजादी और बाल विवाह के मुद्दे पर उनसे बहस कर डाली थी। लोगों ने पंडित जी की हरकत की आलोचना की तो उन्होंने खेद व्यक्त नहीं किया, उल्टे आगामी चुनाव के पहले ब्राह्मण सभा के गठन की घोषणा कर डाली।

मेरे मन में एक सवाल बार-बार उठ रहा था कि इन घटनाओं को मैं किस तरह लूँ? यूनीसेफ की तरफ से पूरा सहयोग था और एक प्रसिद्ध अखबार इस उपक्रम के पीछे था। इससे एक ऐसा अम्ब्रेला बन गया था जिसके नीचे सुरक्षा का बोध होने के कारण एक किस्म के साहस का संचार हो रहा था! या कुछ सार्थक करने के लिए एक नैसर्गिक प्रेरणा भी काम कर रही थी! क्या अभी भी ऐसा कुछ बचा हुआ है। इस मानसिक झंझावात में उलझकर मैं भिंदरया गया था। अपने धन्धे-पानी की बातों से अलग हटकर मैं पहली बार कुछ सोच रहा था। ऐसी गम्भीर ऊहापोह से मेरे सिर में एक विचित्र-सा दर्द होने लगता है जो मेरे स्पांडोलाइटिस से होने वाले दर्द से कुछ अलग किस्म का होता है!

मेनपाट के एक प्रकरण का खुलासा करने का साहस पन्द्रह साल की आदिवासी बाल पत्रकार ने किया था, जिससे एक सामाजिक बहस छिड़ी थी। 'बाल शक्ति' में प्रकाशित उसकी रिपोर्ट पढ़कर पता नहीं कैसे और क्यों मेरे मन में लगा कि काश! लगभग इसी उम्र की मेरी लड़की में भी ऐसी चेतना होती! हो सकता है कि हो, लेकिन मुझे मालूम नहीं।

मेनपाट के नगर सेठ कहलाने वाले सेठ बनवारी के घर भीखू की बहू रामवती बँधुआ मजदूरनी थी। उसके जीवन का त्रास औरों की निगाह में उसकी नियति थी। कुछ वर्ष पहले उसके ससुर भीखू की दो एकड़ जमीन पर तैयार फसल ओलों की मार से ध्वस्त हो गयी थी। सरकारी योजनाएँ और घोषणाएँ तो अखबार की सजावट होती हैं या चैनलों की कमाई। असल बात तो यही है इस देश में सदियों से सेठ-महाजन ही किसानों के तारनहार होते हैं और किसान जानते हैं कि तारनहार ही उन्हें डुबाने वाला है। इलाके की परम्परा के अनुसार ब्याज की रकम नहीं पटायी तो मालिक के घर बेगारी करो। यह तो हमारी परम्परा यानी सामाजिक संस्कृति हुई न, इसलिए मुझे भी पहले कभी नाजायज नहीं लगी। दुनिया इसी तरह चलती रही है और आज भी चल ही रही है। मेरे आध्यात्मिक गुरु भी कहते रहे हैं कि दुनिया की समस्याएँ दया-माया और सन्तोष से हल होती हैं। जिस दिन ईश्वर कृपा से अमीरों के हृदय में दया भाव जागेगा, उसी दिन गरीबी मिट जाएगी, लेकिन बाल पत्रकार लड़की की साहस-भरी रिपोर्ट और उसके सुपरिणाम को मैंने देखा तो मेरी मान्यता डिगने लगी थी। ब्याज की रकम की वसूली के लिए आधा पेट खाना खाकर रामवती को मालिक की इच्छा होने पर उसके साथ सोना भी पड़ता था। ये सूचनाएँ झूठ नहीं थीं। बेगारी के त्रास में फँसी औरत की बहन ने यह बात बाल पत्रकार लड़की को बतलायी थी। एक एनजीओ ने पुलिस की सहायता से रामवती को गुलामी से मुक्ति दिलायी और सेठ जी पर केस दर्ज हुआ।

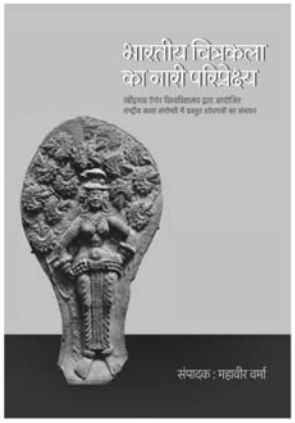

आईसेक्ट पब्लिकेशन

भारतीय चित्रकला का नारी परिप्रेक्ष्य
सं. महावीर अग्रवाल
मूल्य 1500 रु.

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल द्वारा आयोजित 'विश्वरंग' के अन्तर्गत राष्ट्रीय कला संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्रों का संचयन है– 'भारतीय चित्रकला का नारी परिप्रेक्ष्य'। भारतीय चित्रकला में समाज के इस आधी आबादी का प्रतिनिधित्व किस प्रकार हुआ, इसका आकलन प्रस्तुत पुस्तक में बखूबी हुआ है। सभी लेख बेहद तथ्यपरक और निर्भीक हैं, साथ ही चित्रों के संयोजन से यह पुस्तक और भी संग्रहनीय बन गयी है।

हौसला फाउंडेशन और 'बाल शक्ति' अखबार की असल परीक्षा तो थी, टोला गाँव में उठे बवंडर का सामना करने में!

'बाल शक्ति' में एक ऐसा समाचार प्रकाशित हुआ जिस पर गाँव में खास बखेड़ा ही खड़ा हो गया। गाँव की सोलह वर्ष की लड़की गर्भवती हो गयी थी। उसके प्रेमी ने स्वीकार कर लिया था कि गलती उसकी थी और वह लड़की से शादी करना चाहता है, लेकिन दोनों की जातियाँ अलग थीं और लड़की नाबालिग। दोनों के ही जाति-पुंगवों में आग्रह-दुराग्रह, सहमति-असहमति के फन्दे उलझ गये थे। दोनों ही तरफ ऐंठने वाली मूँछें थीं। इस हंगामे में सभी के निशाने पर लड़की थी। बाल पत्रकार ने लड़की की दयनीय स्थिति का समाचार 'बाल शक्ति' में भेजा जिसे बिना दुराग्रह के, एक सामाजिक समस्या के रूप में, बिना किसी पर आरोप लगाये अखबार में प्रकाशित कर दिया गया।

बस, जैसे बम फूट गया हो!

दोनों ही जातियों में तूफान आ गया! उस बवंडर का दायरा कुछ इस तरह बढ़ा कि वह गाँव की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। लौंडे की यह हिम्मत! गाँव की पगड़ी उछाल दी! गाँव की बात थी, गाँव में ही रहती। बाल पत्रकार और उसके घर वालों का बाहर निकलना मुश्किल हो गया। लड़की के रिश्तेदारों ने बाल पत्रकार के पिता को मार-कुटाई की धमकी दी। एक नेता जी ने घोषणा की कि गाँव की इज्जत के सभी हितैषी आगामी रविवार को गाँव के मन्दिर के परिसर में एकत्र हों, ताकि बाल पत्रकार और उसके परिवार को दंडित किया जा सके।

कोढ़ में असल खाज थी आगामी महीने में होने वाले पंचायत चुनाव। कस्बे के चाणक्य माने जाने वाले पत्रकार कवि 'फटाका' का कहना था कि चुनाव आते ही लोग खतरनाक ढंग से मोहल्लाप्रेमी, गाँवप्रेमी, देशप्रेमी और सबसे अधिक जातिप्रेमी हो जाते हैं। किसी ताजे प्रकरण पर जो जितनी जोर से चिल्लाता है, वही गाँव की नयी खबर बन जाता है। वे कहते, देख लो आपसी सम्बन्धों के कॉकटेल में अजीब ढंग के झाग उठ रहे हैं! विभिन्न रंगों की टोपियाँ उड़ कर कब किसके सिर को सुशोभित करेंगी, इसकी कोई गारंटी नहीं है। सुबह का देखा हुआ चेहरा शाम को कुछ और नजर आता है। एक बड़े नेता की जुमला शैली से प्रभावित अनुप्रास प्रेमी फटाका जी का मानना है कि यह परिणय-पूर्व प्रेम-प्रसंग परिणाम प्रकरण सुशान्त सिंह राजपूत की आत्महत्या के बाद देश की सबसे धाँसू किस्म की खबर हो सकती है। उनका सुभाषित था कि आज के मीडिया के एंकर तो गन्धाते हैं, इसलिए किसी साहसी पत्रकार तक खबर पहुँचाने की कोशश करेंगे ताकि खबरों की दुनिया में गाँव का नाम भी चमक सके।

'बाल शक्ति' अखबार का इस प्रकरण से सीधा सम्बन्ध था। मामला गम्भीर बन सकता है, इसलिए जयशंकर ने कोर ग्रुप की बैठक बुलायी। उसने एसपी को विशेष आमन्त्रित के रूप में आग्रह किया था और वे उपस्थित भी हुए! एसपी को घटना की जानकारी हो चुकी थी। उन्होंने आश्वासन दिया, ''मेरे विभाग का पूरा सहयोग मिलेगा। किसी भी पक्ष के दबाव में आये बिना हमारी कोशिश मामले को निपटाने की होगी।''

कमजोर तो वह निकला जिसे हमने तुरुप का इक्का समझा था। विधायक जी ने भी आश्वासन दिया ढुलमुल-सा। यानी कि हें...हें...हें....हें...! बैठक बहुत लम्बी नहीं चली। इस बात के लिए सभी की रजामन्दी थी कि इस मामले में हस्तक्षेप करना चाहिए, लेकिन वहाँ जाने के नाम पर लोग बगले झाँकने लगे। किसी की बीवी बीमार थी! किसी के यहाँ रिश्तेदार आये हुए थे! किसी के करीबी रिश्तेदार के यहाँ शादी में जाना बेहद जरूरी था!

मुझे बेहद आश्चर्य हुआ, जिन महानुभावों को मैं सामाजिक जीवन में गहराई से जुड़ा हुआ समझ रहा था, वे खूबसूरत भाषा की पतली गली से दुम दबाकर खिसक लेना चाहते थे। तरह-तरह के लोगों के बीच रह कर अब तक मैंने जीवन को जिस तरह समझा, मुझे लग रहा था, वह तो उसकी ऊपरी परत-भर है। सच केवल उतना नहीं, जितना आँखों से भर दिखलाई देता है। मैं शान्ति से जीने की कोशिश करने वाला आदमी हूँ, लेकिन सच की अकेली आवाज को दबाने की मंशा को देखकर मेरे भीतर कुछ सुलग रहा था! जयशंकर बारी-बारी से सभी के चेहरों को देख रहा था। मेरी ओर भी उसने गहरी नजरों से देखा। मैंने सिर हिला कर हामी भर दी। निश्चय से भरी हुई।

हम चार लोग हौसला संगठन की सदस्या सर्वमित्रा, जयशंकर, चांडक और मैं झूलाटोला की ओर कार से रवाना हो गये हैं। हमने गाँव के प्रमुख लोगों को और एसपी को सूचित कर दिया है। मुझे लग रहा है कि अभी नेक इरादों के लिए जीवन में जगह बाकी है और उनके पक्ष में खड़ा हुआ जा सकता है। अब जो कुछ भी होगा, सामने आ जायेगा। मेरे मन में उम्मीद की हल्की रोशनी झिलमिला रही है जैसे किसी झोपड़ी के फूस के छप्पर के किसी रन्ध्र से सूरज की किरण का छोटा-सा टुकड़ा प्रवेश करके अँधेरे में अपनी आभा विकीर्ण कर देता है।

मो. 9977137809

❑ कहानी

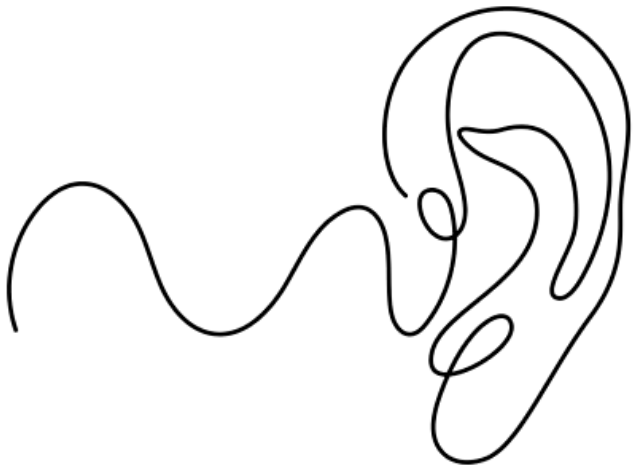

शुभांगी सुनना चाहती है...

तेजेन्द्र शर्मा

तुमने यह क्या कह दिया राज...!

अब यह मत कहना कि तुम सुन तो सकती नहीं हो, फिर सुना कैसे... दरअसल जब तुमसे पहली बार मिली थी तो अचानक कुछ ऐसा महसूस हुआ था कि जिन्दगी को दोबारा जीने के बारे में सोचना चाहिए। तुम्हारी आँखों में मैंने जो महसूस किया, वो कुछ अलग ही था। ऐसी भावना इससे पहले कभी दिल में जागी ही नहीं थी।

फिर तुम्हारा वाट्सऐप सन्देश मिला कि मैं तुम्हें सुन्दर लगती हूँ... पहले तो यही लगा कि तुम मेरा मजाक उड़ा रहे हो। फिर यह भी लगा कि शायद मेरा दिल रखने का प्रयास कर रहे हो। मगर न जाने क्यों हमेशा लगता रहा कि तुम्हारी आँखों में जो देखा था, उसमें एक सचाई थी। हैरानी इस बात की थी कि तुम्हें मेरे लकवाग्रस्त चेहरे की विकृत हँसी में सुन्दरता कैसे दिखाई दे गयी!

तुम नहीं जानते, मैं कब से अपने आसपास के माहौल में उपहास का पात्र बनती रही हूँ। मैं जानती हूँ कि मेरा वो सपना कभी पूरा नहीं होगा जो अधिकांश युवतियाँ देखती हैं और उसे पूरा भी कर लेती हैं। वे दुल्हन बन जाती हैं... मैं कभी भी दुल्हन नहीं बन पाऊँगी!... मगर मुझसे सहानुभूति मत जताना!

तुम शायद सोचोगे कि मैं अतिरेक से काम ले रही हूँ... मगर नहीं... मेरी सचाई यही है। नाम तो मेरा शुभ है... मगर मैं तो अपने लिए ही अशुभ बन चुकी हूँ। सच तो यह है कि मैंने तुम्हारी बात को

अभी तक गम्भीरता से नहीं लिया।... लूँ भी कैसे! यह सुनते-सुनते कान पक चुके हैं कि मैं बदसूरत हूँ और मेरी हँसी डरावनी है।

एक फिल्म देखी थी। फिल्म का नाम तो याद नहीं आ रहा मगर उसमें जीनत अमान ने काम किया था। उस फिल्म में उसका चेहरा एक तरफ से जला हुआ था। उस फिल्म का सुन्दर-सा नायक उसे प्यार करने लगता है। फिल्म में और जीवन में कितना अधिक अन्तर होता है न!

तुम तो मुझे एक बार ही मिले हो। फिर भला तुमने कैसे वो कह दिया जिस पर मैं विश्वास कर पाने की स्थिति में नहीं हूँ। क्या सच में मुझे कोई कभी प्यार कर सकता है? यह ठीक है कि तुम मुझसे दस साल बड़े हो... मगर तुम्हारी बड़ी नौकरी है, समाज में स्टेटस है, मुझ-जैसी आधी-अधूरी लड़की से तुम्हें क्या मिलेगा!

सुनो, मुझे ऐसे सपने न दिखाओ... मेरे जीवन के बहुत से सपने पहले ही धराशाई हो चुके हैं। मगर वो सब सपने मैंने खुद देखे थे और खुद ही तोड़े भी थे। सपनों के बार-बार धराशाई होने से बहुत डरती हूँ मैं। यह एक ऐसी अग्नि है जो जलाती तो है मगर दिखाई नहीं देती है...

जब साहित्य पढ़ती थी तो मिल्टन की एक कविता में ऐसी आग का जिक्र सुना करती थी जो जलाती तो है, मगर दिखाई नहीं देती। मैं तो एक लम्बे अरसे से उसी आग में जल रही हूँ। राज... सच तो यह है कि मैंने इस हादसे के बाद जीना बन्द कर दिया था। ऐसा करने का शौक नहीं था, बस मुझे बार-बार अपनी कमजोरी का अहसास करवाया जाता रहा। हिकारत का भाव सहने की भी तो कोई सीमा होती है न! मैंने अपनी आवाज और हँसी पर इतने कटाक्ष सहे हैं कि अब तो उमंग-जैसी कोई चीज बची ही नहीं है।

मैं तो वकील बनना चाहती थी। बचपन से ही फिल्मों में काला कोट पहनकर सिनेमा के स्क्रीन पर बहस करते वकील मुझे बहुत प्रभावित करते थे। मैं तो घर में शीशे के सामने 'मी लॉर्ड' कह कर पूरी बहस कर लिया करती थी। मगर इस हादसे ने मेरे साथ बहुत अन्याय किया। दुनिया की किसी भी अदालत में मुझे इंसाफ नहीं मिल सकता।

तुम जानना चाहते हो न कि क्या मैं पैदा ही एक डिफेक्टिव पीस के तौर पर हुई थी। नहीं राज, ऐसा नहीं है। मेरी समस्या जन्मजात नहीं है। मेरी समस्या की शुरुआत उसी रात को हो गयी थी जिस रात एक जहरीली गैस ने रिसना शुरू किया और एक हँसते-खेलते शहर को श्मशान और कब्रिस्तान बना दिया।

मैं तो उस समय स्कूल में थी। मेरा स्कूल उन दिनों नया-नया ही बना था। ईदगाह रोड पर था। मैं वहाँ भरतनाट्यम डांस भी सीखती थी। उन दिनों लड़कियों में कराटे इतना अधिक लोकप्रिय नहीं था। मगर मेरे पापा ने मुझे कराटे सीखने के लिए प्रोत्साहित किया। वे कहा करते थे, ''शुभांगी, एक बात याद रखो। मेरे लिए तुम रसोई में बन्द रहने वाली लड़की नहीं हो। कराटे सीखोगी तो जमाने से लड़ना सीखोगी।''

मेरे स्कूल में लड़के भी थे, यानी कि को-एजूकेशन स्कूल था। मैं तो स्कूल में दबंग लड़की के रूप में जानी जाती थी। लड़के भी मुझसे दबते थे... उस पर एनसीसी की सार्जेंट और कराटे की एक्स्पर्ट... सभी सम्मान से पेश आते थे।

इस गैस रिसाव ने मेरे जीवन के साथ एक घिनौना खेल कर डाला। मेरे कानों में संक्रमण हो गया। हरे रंग का बदबूदार मवाद कानों से निकलने लगा। मैं तो बुरी तरह से घबरा गयी थी। माँ परेशान और पापा को समझ ही नहीं आ रही थी कि इस बीमारी से निपटा कैसे जाए! सुनाई देना कम होने लगा... काँप गयी यह सोचकर ही कि मैं बहरी होने जा रही हूँ... यह एकदम वाली मौत नहीं थी... घिसट-घिसट कर मरना था मुझे।

1984 का साल ही हम सबके लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। इन्दिरा गाँधी की हत्या... फिर सिखों की खुले आम हत्याएँ और उसके बाद गैस रिसाव। मेरे तालाबों के शहर को नजर लग गयी थी और माँ यही सोचती थी कि मुझे भी नजर ही लग गयी है। मुझे नहीं पता, नजर लगती है या नहीं... मगर मुझे अपनी ही आवाज अब सुनाई देनी बन्द हो रही थी।

माँ शंकर भगवान के सामने हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगी थी, ''भगवान, मेरी बेटी से क्या गुनाह हो गया है! हमारे किसी गुनाह की सजा हमारी बेटी को मत दीजिये। हमने तो चौरासी के दंगों में पाँच-पाँच सिख परिवारों को अपने घर में छिपा कर बचाया था। फिर मेरी बेटी के साथ इतना बड़ा अन्याय क्यों?''

मुझे अच्छी तरह याद है कि सर्दियों के दिन थे और दो दिन बाद ही पूरे परिवार ने अल्पना टाकीज में अमिताभ बच्चन की फिल्म 'शराबी' देखने का प्रोग्राम बना रखा था। और बस हो गया यह हादसा... चारों तरफ ऐसी दहशत फैली थी कि किसी को याद भी नहीं आया कि अमिताभ बच्चन की फिल्म देखने जाना है। हमारे घर में अमिताभ बच्चन की फिल्म देखने का अर्थ होता था एक उत्सव। कुछ घंटे पहले ही घर में चहल-पहल शुरू हो जाती। सब लोग नहा धोकर, सज-धज कर शाम के शो के लिए निकलते, अमिताभ बच्चन की फिल्म का आनन्द उठाते और रात के भोजन का आनन्द 'बापू की कुटिया' में उठाया जाता। मुझे तो आज भी लगता है कि पूरे भोपाल में उनसे

बेहतर शाकाहारी खाना और कहीं नहीं मिलता।

पापा की कोशिश हमेशा यही रहती कि परिवार को बेहतरीन खुशियाँ मुहैया करवा सकें। वे एक परफेक्ट पापा थे... मेरे हीरो। एक बात बताऊँ, तुम से जब मिली थी तो तुम्हारा बात करने का ढंग कुछ-कुछ मेरे पापा-जैसा ही लगा था। शायद मैं हर इंसान में अपने पापा को ही खोजती हूँ। तुम्हारी सबसे अच्छी बात यही लगी कि तुमने मुझ पर दया नहीं दिखाई। अधिकांश लोग तो दया-भाव से दबा-दबा कर मार डालते हैं। मुझे 'बेचारी' शब्द से डर लगने लगा था। मैं हर किसी के लिए बेचारी बन गयी थी। मेरे भीतर से दर्द-भरी आवाज बार-बार कहती थी– मुझ पर दया न कीजिये, सहानुभूति न दिखाइये, मेरे साथ भी नॉर्मल इंसान की तरह व्यवहार करिये।

जब तुम मुझे मिले, तुमने बिना किसी परेशानी के लिख कर अपनी बात मुझ समझा दी। आजकल तो मोबाइल पर आसानी से टाइप हो जाता है। कुछ लिखना भी नहीं पड़ता। तुमने मुझे कहीं यह अहसास नहीं दिलाया कि मुझमें कोई कमी है।

आज तुम्हें बताना चाहती हूँ कि मुझे दोनों कानों में 'कोलस्टीटोमा' की समस्या हो गयी थी। स्कूल में बहुत परेशानी हो रही थी। सुनाई देना लगभग बन्द ही होने लगा था। उस समय तो पता ही नहीं चलता था कि इस बीमारी का अर्थ क्या है... कारण क्या हैं! बस बहरी होती जा रही थी।

आज इतने साल बीत जाने के बाद भी मैं अपनी समस्याओं के बारे में गूगल पर सर्च करती रहती हूँ। अगर तुम गूगल पर ढूँढोगे तो तुम्हें स्वयं ही मालूम हो जाएगा कि यह क्या बला है! मगर तुम्हारा काम थोड़ा आसान कर देती हूँ। कान की भीतरी त्वचा में एक गाँठ-सी बनती जाती है जो कानों के मध्य भाग में कान की हड्डियों और पर्दे को जकड़ लेती है। कान काम करना कम या फिर बन्द ही कर देते हैं। कान में वायु न जाने से कान के बीच का हिस्सा इंफेक्शन के कारण सड़ने लगता है। मवाद बढ़ने लगता है। कान के पर्दे में छेद हो जाता है।

तुम्हारा अगर मजाक करने को जी चाहे तो तुम कह सकते हो कि मैं अवश्य ही एक विशेष किस्म की इंसान हूँ जिसे इतनी विशेष किस्म की बीमारी हुई। याद है न, आनन्द फिल्म में राजेश खन्ना जब अपनी बीमारी का नाम सुनता है– लिम्फोसर्कोमा ऑफ दि इंटेस्टाइंस, तो कितने दर्द-भरे हँसते हुए लहजे में कहता है– ''बीमारी हो तो ऐसी... लगता है जैसे किसी

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

बानो का बाबू
रफी शब्बीर

मूल्य 250 रु.

दुनिया की पहली महिला कव्वाल शकीला बानो भोपाली को दुनिया के नामवर लोगों ने उसके फन और शख्सियत की वजह से जाना... मगर एक ऐसा शख्स भी है जिसने शकीला बानो को मेहबूब की नजर से देखा और उस पर अपनी जिन्दगी न्यौछावर कर दी। यह किताब शकीला बानो के हमदम रहे और आज भी भोपाल की तंग गलियों में अपनी जिन्दगी बसर कर रहे बाबू की जुबानी लिखी गयी है। इस मोहब्बत की दास्ताँ को बयाँ करते हुए बाबू आज भी यह कहते हैं–

इश्क जिन्दा भी छोड़ देता है / तुमको अपनी मिसाल देता हूँ।

वाइसराय का नाम है!'' कोलस्टीटोमा सुन कर मुझे भी कुछ ऐसा ही अहसास होता है।

पापा ने इलाज में कोई कमी नहीं रख छोड़ी थी। मेरे कान की तीन-तीन बार सर्जरी हुई। इतनी कॉम्पलेक्स सर्जरी थी कि कान के भीतर से पूरी गाँठ निकाल कर पर्दे का भी ऑपरेशन किया गया।

तीन-तीन बड़े आपरेशनों के बाद भी कोई लाभ नहीं हुआ। ये गठान-सी बनावट को कान के अन्दर से पूरा निकालकर, पर्दे का छेद बन्द करने की शल्यचिकित्सा हुई, दोनों कानों की बारी-बारी। लेकिन यदि इस गठान-सी बनावट की सुई की नोंक बराबर हिस्सा भी अन्दर बचा रह जाय तो फिर बढ़ने लगती है।

सुनो, तुम बोर तो नहीं हो रहे... कहीं सोच रहे हो कि क्यों इतनी अधिक जानकारी दे रही है। मुझे कौन-सा डॉक्टर बनना है! राज, बरसों से इन बातों को अपने दिल में दबाये रखा है। आज तुम पर जाहिर करके मेरे अपने दिल से बहुत बड़ा बोझ उतर रहा है। महसूस हो रहा है कि तुम्हें मेरे बारे में सबकुछ मालूम होना चाहिए।

पापा मुझे बम्बई भी ले गये थे। वहाँ के नामी सर्जन ने मेरी सर्जरी की थी। आज तो उसका नाम भी याद नहीं आ रहा। मगर समाचार-पत्रों में उसका नाम पढ़ा करती थी। कान की माइक्रो सर्जरी और कोक्लियर इंम्प्लांट सर्जरी को उसी डॉक्टर ने भारत में लोकप्रिय किया। मगर मेरी किस्मत अच्छी नहीं थी। 'बेस्ट' भी मेरे लिए 'गुड' साबित नहीं हो पाया।

राज, आज यह कहते हुए इतना दर्द नहीं हो रहा, क्योंकि इस बीच सालों बीत चुके हैं। मगर उस सर्जन की एक गलती ने मेरी पूरी जिन्दगी बदसूरत बना दी और मुझे बहरा कर दिया। मेरे बायें कान के ऑपरेशन के दौरान कान के पीछे से निकलने वाली चेहरे की मुख्य नस क्षतिग्रस्त हो गयी। वैसे जब इस सर्जरी के लिए पापा ने फॉर्म भरे थे तो उनमें लिखा हुआ था कि ऐसा हादसा हो सकता है। मगर सर्जन ने हौसला दिलाया था कि उसके हाथों आज तक कभी किसी के साथ कोई दुर्घटना नहीं हुई।

मैं तो क्लास में भी फर्स्ट आती थी और हादसे में भी फर्स्ट आ गयी। इतने महान सर्जन की पहली गलती का शिकार भी मैं ही बनी। मुझे कभी समझ नहीं आया कि सर्जन के लिए तो छोटी-सी गलती थी, मगर एक सोलह साल की लड़की का पूरा जीवन बरबाद। वो लड़की जिसे गीता दत्त की गीतों से पागलों की तरह प्यार था... हर महफिल में इतरा-इतरा कर गाती थी... अब वो कभी भी फिल्मी गीत सुन नहीं पायेगी... क्या

अब मैं पूरी तरह से अपनी सुनने की ताकत खो चुकी थी। और मेरे आधे चेहरे के लकवे के कारण मेरी मुस्कान और हँसी कुरूप हो चुकी थी। और बस अब यही मेरी पहचान थी– एक आधे चेहरे के लकवे वाली बहरी लड़की।

पुराने और क्या नये! अचानक पूरी दुनिया का संगीत मेरे लिए चुप हो जाएगा। एक ऐसा ठोस सन्नाटा मेरे चहुँओर फैल जाएगा जिसको चीर पाना कभी सम्भव नहीं होगा।

यही हुआ भी। डॉक्टर ने दिलासा दिलायी– एक और झूठ, ''जी, घबराने की बात नहीं। आपकी बेटी छह महीने में ठीक हो जाएगी।... मगर छह, सात, आठ महीने बीत गये... साल भी बीतते गये... कुछ ठीक नहीं हुआ... सन्नाटा और गहरा होता गया। मैंने क्या कुछ नहीं किया राज... अपनी वीभत्स हँसी को ठीक करने और कानों की सुनने की ताकत को वापिस पाने के लिए कितनी शिद्दत से मैंने तरह-तरह की एक्सरसाइजें कीं– कभी एक्यूप्रेशर तो कभी एक्यूपंक्चर... फिजियोथिरेपी तो महीनों चलती रही। मगर निराशा के बादलों में से आशा के सूरज का दिखाई दे पाना आसान नहीं होता है।

मेरी क्लास में ही एक लड़का पढ़ा करता था... आलोक नाम था उसका। मुझे बहुत पसन्द करता था, कम से कम कहता तो यही था... वो जो बचपन वाला प्यार होता है न... कुछ-कुछ वैसा ही हो गया था। मगर मेरे चेहरे की कुरूपता ने उसे सबसे पहले मुझसे दूर कर दिया। जब मैं इतने दिनों तक स्कूल नहीं गयी तो वह दो लड़कियों को साथ लाकर मेरा हाल पूछने आया था। बस... वो उसे देखने का अन्तिम दिन था। बाद में पता चला कि उन्हीं में से एक लड़की के साथ उसका अफेयर शुरू हो गया था। मेरा तो... शुरू ही नहीं हो पाया... शुरू होने से पहले ही सब खत्म।

अब मैं पूरी तरह से अपनी सुनने की ताकत खो चुकी थी। और मेरे आधे चेहरे के लकवे के कारण मेरी मुस्कान और हँसी

कुरूप हो चुकी थी। और बस अब यही मेरी पहचान थी– एक आधे चेहरे के लकवे वाली बहरी लड़की।

अब यह भी समझ आने लगा था कि पहाड़-सी जिन्दगी का अर्थ क्या होता है! जैसे मैं सीधी बहाव के साथ तैरती चली जा रही थी और अचानक रास्ते में बड़ी-सी चट्टान ने रास्ता रोक दिया और चारों ओर अँधेरा छा गया... कहाँ पानी की धार है और कहाँ चट्टान... सब गड्मड हो गया था।

मगर भीतर से मैं एक खिलाड़ी थी। एनसीसी की ट्रेनिंग ने मुझे किसी हद तक एक सैनिक भी बना दिया था। मैंने तय कर लिया था कि मुझे आत्मनिर्भर बनना है। मैं अपने माता-पिता पर बोझ नहीं बन कर रहूँगी। मैंने अपनी भीतरी शक्ति को एकत्रित करना शुरू किया और अपने आप को सक्षम बनाना शुरू कर दिया।

मेरे पापा और छोटा भाई नहीं चाहते थे कि मैं जीवन के थपेड़े खाने के लिए घर से बाहर संघर्ष करूँ। राज, जाने कैसा डरावना अहसास होता था! रात-रात भर जागती रहती... निरन्तर भगवान शिव की आराधना करती... अब मैं ध्वनि की दुनिया से दूर जा चुकी थी... मुझे अपने ही बोले गये मन्त्रों की ध्वनि सुनाई नहीं देती थी। एकाकी, सूना जीवन... नितान्त एकाकी। स्कूल छूटा, धीरे-धीरे सब दोस्त-सहेलियाँ छूटते चले गये। गीत-संगीत सब स्मृति में रह गया। चेहरे के लकवे ने मेरी आवाज और उच्चारण को भी प्रभावित किया। जिन्दगी एक दर्द बन चुकी थी।

राज, यदि समस्याओं का अन्त यहीं हो जाता तो भी तसल्ली कर लेती। अचानक मेरे कानों के सन्नाटे में कुछ ध्वनियाँ गूँजने लगीं। इन ध्वनियों ने दिमाग की शान्ति पूरी तरह से ध्वस्त कर दी। कई बार तो ये सीटियों की ध्वनि इतनी तेज हो जाती कि रात को सोना मुश्किल हो जाता। डॉक्टरों पर अब मेरा भरोसा खत्म हो चुका था, फिर भी जाना तो उन्हीं के पास होता है। अबकी बार बताया कि कान में बजने वाली इन सीटियों को 'टिनिटस' कहते हैं। मुझ पर एक और अहसान कर दिया... अपनी सर्द आवाज में कह दिया कि यह समस्या लाइलाज है।

राज, आधे चेहरे का लकवा अपने आपमें बहुत दर्दनाक रहा। सर्दियों के मौसम में तो बहुत ही दुखता है। न जाने ईश्वर क्यों मुझसे नाराज से थे। जैसे उन्हें लग रहा था कि जो दर्द मेरे जीवन में पहले से घर बनाये बैठा है, काफी नहीं है... एक दुर्घटना में मुझे अपने चेहरे के उसी भाग पर एक गम्भीर जानलेवा चोट लग गयी। इससे मेरी गाल की हड्डी कुचल गयी और आँख की निचली पलक के नीचे सात टाँके आये थे। अँग्रेज लोग हमेशा लक्की सेवन कहते हैं... मगर मुझे जो सात टाँके लगे, उनके निशान आज तक अपनी उपस्थिति का अहसास करवाते रहते हैं। फिर भी ईश्वर का शुक्र ही मनाना होगा कि इस दुर्घटना

आईसेक्ट पब्लिकेशन

विगत 34 वर्षों से प्रकाशित

इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर विज्ञान एवं नयी तकनीक की हिन्दी मासिक पत्रिका

इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए

राष्ट्रीय राजभाषा शील्ड सम्मान, रामेश्वर गुरु पुरस्कार, भारतेन्दु पुरस्कार तथा सारस्वत सम्मान से सम्मानित

सम्पादक
संतोष चौबे

कार्यकारी सम्पादक
डॉ. विनीता चौबे

आईसेक्ट लिमिटेड, स्कोप कैम्पस, एनएच-12,
होशंगाबाद रोड, मिसरोद, भोपाल-462047

एक प्रति- 40 रु., वार्षिक सदस्यता- 480 रु.
फोन- (0755)2700466, 2700400

में मेरी आँख बच गयी। मगर मेरा लकवा और बिगड़ गया।

राज, तुमसे जब पलाश होटल में मुलाकात हुई तो यह अहसास तो हो गया था कि तुम सबसे कुछ अलग हो। तुममें एक परिपक्वता-सी महसूस हुई। तुम्हें अपनी बात कहने की कोई जल्दी नहीं रहती। अपने एक-एक शब्द को ठहराव से पूरा करते हो। तुम सामने वाले की पूरी बात सुनते हो... और यह भी अहसास दिलाते हो कि तुम बात सुनना चाहते हो। मैं तुम्हें बार-बार याद दिलाती रहूँगी कि मैं यह सब तुम्हारी सिम्पैथी पाने के लिए नहीं बता रही। जब मुझे लोग बेचारी कहते हैं तो बहुत दर्द होता है।

तुम जानते हो कि इस चोट के बाद कुछ महात्माओं-जैसी स्थिति हो गयी थी। इतना कुछ खो चुकी थी कि अब कुछ और खोने का कोई डर नहीं था। मेरे चेहरे पर लकवे की कुरूपता के बाद, करीब तीन चार वर्षों तक दिखता रहा गहरा चोट का निशान। मैंने उसे भी मैंने सन्त भाव से अंगीकृत कर लिया। और मेरा उपहास उड़ाने वालों के दंश भी मैं सन्त भाव से लेती रही हूँ। अब तो मैं कोई प्रतिक्रिया देती ही नहीं हूँ।

जीवन को समझे के लिए मैंने गीता को पढ़ना शुरू किया। बस कर्म को अपना जीवन बना लिया है। जीवन में कितना कुछ है करने को, सीखने को। मैंने अपनी पढ़ाई पत्राचार कोर्स के माध्यम से पूरी की। कॉलेज वगैरह जाने का मन ही नहीं होता था। जब अपनी योग्यता के बल-बूते पर मेरी नौकरी बैंक में लग गयी तो लगा जैसे एक बड़ा सपना पूरा हो गया। मैंने अब यह फैसला कर लिया था कि मुझे अपना तमाम जीवन अकेले ही बिताना है। इसके लिए जरूरी था कि मैं अपना निजी घर खरीदने के बारे में सोचूँ ताकि किसी पर भी बोझ न बनना पड़े। मगर एक आम लड़की के लिए इस दुनिया में जीना आसान नहीं है। मेरी हर खुशी में मेरे आसपास के लोगों ने कई तरह के रोड़े अटकाये।

मिर्जा गालिब ने कहा है न, 'इशरत-ए-कतरा है दरिया में फना हो जाना / दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' बस मेरे साथ भी यही हो रहा था। मेरे दर्द भी इतने बढ़ा दिये गये थे कि अब वो दवा बनते जा रहे थे। और मैं दर्द झेल-झेल कर फौलाद होती जा रही थी।

मेरी कलम भी चलने लगी थी। मैंने कुछ अशआर लिखे-

मुश्किलों में भी ऐ यारो मुस्कराते ही रहे,
इस तरह हम जिन्दगानी को लुभाते ही रहे।
ऐ मेरी किस्मत जो चाहा तूने, वो हमने किया
हर तमन्ना जिन्दगी-भर हम दबाते ही रहे।
मुफलिसी का साथ था, और गम मेरे हमराज थे,
फिर भी खुशियों के तराने गुनगुनाते ही रहे।
हर तरफ छाया अँधेरा, जिन्दगानी में मगर
फिर भी हिम्मत के दिये हम नित जलाते ही रहे।
हमको शिकवा था किसी से, ना ही था कोई गिला
वक्त जैसा बीता वैसा हम बिताते ही रहे।

ये जमाने वाले लोग आखिर ऐसे क्यों होते हैं राज? मेरे चेहरे और वीभत्स मुस्कान के कारण मुझे साहित्यिक समागमों से दरकिनार कर दिया जाता। बैंक में होने वाले सांस्कृतिक समारोह भी मेरी पहुँच से बाहर कर दिया गये। कवि गोष्ठियों और सम्मेलनों में भी मुझ पर पाबन्दी है। मगर मैंने लिखना बन्द नहीं किया। हाँ, यह सच है कि मेरी गजलों और गीतों में दर्द बढ़ता गया। गूगल मेरा सबसे प्यारा दोस्त बन गया। अब मैं फिल्मी गीत सुनने के स्थान पर ऑनलाइन पढ़ने लगी। लिखते समय मैं चाहे बोलूँ या गाऊँ... मेरा विकृत चेहरा किसी को दिखाई नहीं देता।

मेरी किस्मत ने एक सकारात्मक मोड़ लिया और मुझे एक कोऑपरेटिव सोसाइटी में अपना फ्लैट खरीदने में सफलता हाथ लग गयी। वहाँ के सेक्रेटरी महाशय को मेरा विकृत चेहरा बिल्कुल पसन्द नहीं आया। बस इसी कारण मेरे फ्लैट के सामने वाली पार्किंग मेरी सुन्दर पड़ोसन के नाम कर दी। पूरी बदतमीजी से मुझे बता दिया कि मेरा चेहरा बोलते समय विकृत हो जाता है... देखने वालों को अच्छा नहीं लगेगा... अत: सामने की कार पार्किंग वो मुझे नहीं दे सकते। मुझे बिल्डिंग के पिछले भाग में पार्किंग दी गयी है।

मुझ में यह सब सहने की शक्ति है राज। मगर यह नहीं समझ में आ रहा कि जिस महिला को मेरी वाली पार्किंग दी गयी है, उसके पास तो कार भी नहीं है! वह तो दुपहिया स्कूटर चलाती है। उसको शह देने के लिए बिल्डिंग के कुछ मेम्बर उसकी पार्किंग में अपने स्कूटर और मोटरसाइकिल खड़े कर देते हैं ताकि जगह भरी हुई लगे। मुझे बार-बार मेरी औकात बताते रहते हैं।

मैं नहीं जानती कि तुमसे मिलने के बाद क्या होने वाला है, मगर यह सच है कि तुमने फिर से मेरी उमंगों में तरंगें पैदा कर दी हैं। तुम पर विश्वास करने को दिल करता है। तुमने लिखा है कि तुम मुझे ले जाओगे... इस शहर से दूर, जिसमें मेरे लिए सिवाय कड़वी यादों के और कुछ भी नहीं। तुम अपना बाकी का सारा जीवन मेरे साथ बिताना चाहते हो... भला मैं रात-भर कैसे सो पाऊँगी... कल की भोर के साथ ही तो होना है तुम्हारा आगमन... मैं जानती हूँ कि तुम ही मेरे जीवन के अँधेरे का अन्त कर सकते हो... तुमने लिखा है कि मैं तुम्हें सुन्दर लगती हूँ... काश! मैं तुम्हारे ये शब्द सुन पाती...।

फोकस

मनीषा कुलश्रेष्ठ

26 अगस्त 1967 को जन्म। अब तक आठ कहानी-संग्रह– कठपुतलियाँ, कुछ भी तो रूमानी नहीं, बौनी होती परछाईं, केयर ऑव स्वात घाटी, गन्धर्वगाथा, अनामा, रंगरूप-रसगन्ध, दस कहानियाँ। छह उपन्यास– शिगाफ, शालभंजिका, पंचकन्या, स्वप्नपाश, मल्लिका व सोफिया।

रचनाओं के लिए वनमाली युवा कथा सम्मान, रांगेय राघव पुरस्कार, डॉ. घासीराम वर्मा पुरस्कार, कृष्णप्रताप कथा सम्मान, ढींगरा फाउंडेशन अन्तरराष्ट्रीय कथा सम्मान, इन्दु शर्मा कथा सम्मान, स्पन्दन सम्मान आदि प्राप्त।

इन दिनों जयपुर में रहती हैं। इंटरनेट की पहली हिन्दी वेबपत्रिका 'हिन्दीनेस्ट' का सम्पादन करती हैं।

❑ कहानी

जमीन

मनीषा कुलश्रेष्ठ

सुरमन ने पूरब की तरफ देखा, आसमान पर जीर्ण ओढ़ने-सा एक बादल लटका था। नीम की डाल पर नुचे पंख वाला काणा कौआ भी कुछ देर काँव-काँव करके चुप हो गया। खेजडी में सोई कमेड़ी ने 'बुग-डुग' की, तभी उसके भीतर दुबका डर रोज की तरह जगा। मानो डर ना हुआ भीतर कोई ढिबरी हो, जिसे शाम ढलते ही बालना एक रोज का काम हो। दिन-भर से कमर में बँधी दराँती उसने सरहाने रख ली। अब उसकी कमर को भी इसकी आदत पड़ गयी है। यह केवल घास काटने के ही काम तो नहीं आती! आत्मरक्षा केवल साँप-सियार-रोजिडों से ही थोड़ी ना! कभी अपने तो कभी दूसरे गाँव के गंडक– ना! कुत्ते नहीं.. बदमास-छोरे। कुत्ते तो सुरमन के भायले रक्षक ठहरे, साथ बने रहते हैं। आखिर सुरमन कम काम आती है क्या उनके? अब भी सोते होंगे गुआड़ के पीछे... बहुत सहारा है इनका।

गोधूली में चिड़ियों का कलरव कम होते ही सुरमन अपने भीतर दो-तीन इन्द्रियाँ और जगा लेती थी। सुनने और सूँघने के बीच जैसा-कुछ, त्वचा पर महसूस करने और धुँधलके में देखने से भी आगे का कुछ, वह कान से देखती और नाक से आहट और महक का पता पाने लगती थी। यह अतिरिक्त सजगता साँझ ढलने के बाद की असुरक्षा की थी। जमीन जो दादोसा के विगत पुरुषार्थ का फल और सुरमन के आगत का आश्रय है, कुछ लोगों के लिए यह चील के घोंसले से गिरी बोटी है। उसी के चलते अफवाह उड़ाई जाएगी, फौजी के खेत में आधी रात बाल खोल कर नंगी चुड़ैलें नाचती हैं और घर पर भाटे फेंकती हैं। वह जानती है, यह उसका सौतेला काका डालचन्द है जिसकी शह पर गाँव के शैतान छोरे ऐसा करते हैं। ठर्रा पीकर उसे रंडी और उसके दादोसा को 'डोकरा फौजी' कहकर गालियाँ काढ़ेंगे। दादोसा अपनी रात की रम की खुराक लेकर या तो फौजी गालियों से गाँव गुँजा देंगे या फिर खुर्राटों से घर... नींद आने तक सुरमन यह सब सुनती रहेगी... कमर में बँधी दराँती कसमसायेगी। वह अपनी समस्या केवल मुकुन्दी को बता

पाती थी।

''बकने दे कुत्तों को! तू क्या डरती है सुरमन... खेतों में बाल खोल कर नाचने वाली चुड़ैल से?''

''हट! मैं तो खेतों में बाल फैला कर रोने वाली चुड़ैलों से दोस्ती कर लूँ। मुकु मैं तो अपने सगेवालों से डरती हूँ जो दिन में दिलासा देते रात को किंवाड़ से झाँकते हैं। छोरों को भाटे फेंकने के दाम देते हैं। तू तो गाँव से चली गयी, मैं एकली छूट गयी। दिन-भर खेत-क्यार, रात को गुंडों का डर। बस छह महीने से हुआ है यह सब, जब से पटवारी को बुलाकर दादोसा ने मेरे नाम तीनों एकड़ खेती कर दी। तब से रोजाना का काम है– कवेलुओं पर भाटों की बरसात और गालियाँ, खड़ी फसल पर डाँगर हाँक देना। आते-जाते नागी कर के गाँव से निकालने की धमकी देना। मुझे दादोसा और मेरी माँ की हराम की औलाद बताना जिसके चलते मेरे बाप ने...''

''ऐसे-कैसे दादोसा के रहते?''

''यों तो दादोसा गाँव में हर हगी-मूती बात पर रायफल निकाल लेते हैं। लेकिन डालचन्द को कुछ कहते उनमें महाभारत का अर्जुन उतर जाता। अपने लोग, अपना कुटुम्ब... रात की रोटी खा कर या तो रम या तो अमल चढ़ा कर उस दुनिया में पहुँच जाते...। मैं फिर वही अकेली की अकेली और ये तीन बीघा में फैले खेत...। और फसल! कैसी-कैसी आवाजें, फुसफुसाहटें। बता, डर की बात है कि नहीं?''

''ब्याह कर ले!''

''कोई दिखता है तुझे आस-पास... जो थोड़ा भी सयाना हो ... सब तेरे जैसी किस्मत वाली कहाँ! तेरे को तो कब एक का परेम पूरा पड़ा– नरवर भील के माँदल बजाने पर ही रीझ गयी गैली!''

नरवर के नाम से ही मुकन्दी की आँखों में प्रसन्नता और चाव का अग्निपुष्प-सा दहक जाता था। मुकुन्दी ऐसी मिट्टी की बनी थी कि वह बचपन से आज तक सुरमन की किसी बात से रूठी नहीं... ओलमे देकर रह जाती, मगर दूर कभी नहीं जाती, चाहे सुरमन खूब कँटीली बात कह दे। वैसे वो साँवली मेनका थी, खूब तीखे नैन-नक्श। जो एक बार देखे, पलटे बिना कैसे रहे?

''अब मैं क्या करूँ जो तुझे छोरों को पटाना नीं आता। हमेशा अपना शाणापन दिखाती है। जबकि छोरों को भोली छोरियाँ भाती हैं– जो दिमाग न चलाती हों, बात ना काटती हों।''

''अपन तो ऐसे ही हैं भई!''

सुरमन सच में जिद्दी और पैनी निगाह वाली लड़की थी। देखने में कोई अप्सरा नहीं थी, मगर चेहरे पर एक गुलाबी दमक थी। लम्बा कद, मजबूत काठी, कम बोलने और माथा ऊँचा करके चलने के कारण वह घमंडी दिखती, मगर मन की गहराइयों में उसे भी प्रीत-परेम की बातें, फिल्मी गीत अच्छे लगते थे। गाँव में दसवीं के आगे स्कूल होता तो वो जरूर आगे पढ़ती। दादोसा का बुढ़ापा और उसकी जवानी साथ ही आये। फिर खेत कौन सँभालता? दादोसा ने उसे किसानी जरूर अच्छी तरह से पढ़ा दी थी कि पोती-दादा की यह जोड़ी तीन नगद फसलें उगाह लेती थी। जमीन पर टिकी सुरमन को दूसरी लड़कियों की भावुकता और बेवकूफियों से चिढ़ थी। बस एक बार उसने दूर से देखी थी प्रेम-चिड़कली। फागण की गैर देखते हुए किसी की नजर से उड़ कर उसकी मुंडेर पर बैठी थी, मगर पलक झपकते ही उड़ गयी।

''तुझे मुबारक हो ये परेम प्रीत के नखरे...''

''हिश्ट! परेम... दोनों फोकटिए तो इस गात के पीछे।''

''तुझे समाज का डर नहीं लगता?''

''गैली! ये समाज? जो तुझे नागी कर घर-खेत से निकालने की धमकी और आत्मा को ढाँक कर रखने की सीख देता है?''

''चल फालतू बात छोड़। तू जंगल से पोई का और कमरख का पौधा लायी? मैं बगीची तैयार कर रही। शहर जाकर पौध बेचूँगी। मुझे पैसे जमा करने हैं।''

''लाई ना! नरवर ने जंगल से तेरे लिए करंज और कुन्दरु भी भेजा है। पण ये बता कि तीन बीघे की मालकन को सहर जा कर पौध बेचने की क्या जरूरत?''

''तू जानती नईं के दादोसा को, एक धेला नकद नीं पकड़ाते, जमीन का टुकड़ा तोड़ के बाजार-हाट करूँ? मैं जानना-देखना चाहती शहर। आगे तो सब मुझे ही देखना, तो जान लूँ प्रतापगढ़ की अनाज मंडी और पंचायत समीती का ठिकाणा... छोड़ अपनी बता।''

''क्या बताऊँ, बस मजे!'' सुरमन ने मुकुन्दी को गौर से देखा।

''तुझे डर नीं लगता कि कुछ हो-हुवा गया तो?''

''ना! ये देख अरंडी के बीज... नरवर ने दिये बोला– ले मुक्ति के बीज!''

''हिश्ट! पिरेम है ये?''

''तू क्या जाने!''

''परेम तो चार दिन का चाँदना... बिचारा तेरा कुम्हार पति चाक घुमाता रहा और तू माही नदी से मिट्टी लाने के बहाने उस भील नरवर से... वो आज भी हर शनिवार भौमिया जी के धोक लगाने जाता है, कि तू अछता-पछता कर वापस लौटेगी। ...तू भी पक्का घर और खाता-कमाता धणी छोड़... तीर चलाने

वाले, कच्ची झोपड़ी में रहने वाले आदिवासी संग जा बसी। अगले ने पंचायत बिठाने से इनकार कर दिया... इस उम्मीद में की तू लौट आएगी। कोई और होता दूसरी ले आता नाते... लौट आ मुकु!''

''बहुत दया है तो तू चली जा उसके पास, तू भी तो बिन फूल का कँटीला झाड़...'' कह कर मुकुन्दी ने जीभ काट ली। सुरमन के बात गड़ गयी, आँख के कोर गीले हो गये।

''सोरी सुरमनी!''

''कोई नई! मैं चलूँ दादोसा का जी आज सोरा नहीं।''

''सुन, कुछ जरूरत हो तो दादोसा के मोबिल से मुझे फोन कर देना। मैं नरवर को भेज दूँगी।''

''मुझे कहाँ चलाने देते अपना फोन? पर अब यह भी सीखूँगी।''

''पिसे इकट्ठे कर ले, सावणी मेले में ले लेना। जरूरी चीज आज के जमाने में।''

''मेरे भी दो-चार प्रेमी होते तो दिला देते, मैं भी तेरी तरह फोन में कूकती रहती... लव यू-लव यू!''

''हट! ज्यादा कूकने वाली चिड़िया कभी घोंसला नहीं बना पाती।''

''बिना कूके भी किसका बना?''

''गलती तेरी ही है ना सुरमन... अब भी सोच ले सुमेर...''

''देख वो बात मत छेड़...''

दोनों सहेलियाँ एक मुहाने पर आकर दो नदियों-सी विपरीत दिशा में पलट गयीं। जब से भागी है मुकुन्दी वो दोनों सहेलियाँ वहाँ मिलती हैं जहाँ सड़क खत्म होती है और बूढ़ी अरावली की तराई शुरू होती है। जहाँ पीले सरसों के खेत खत्म होते हैं और टेसू और सेम्मल के लाल जंगल शुरू। वहीं नरवर से भी मिलवाया था मुकुन्दी ने। चेहरे से मन पढ़ने वाली सुरमन जान गयी थी– बोलता ज्यादा है पर इंसान खरा है नरवर।

सुरमन को दूर से दादो सा की बलगम-भरी लम्बी खाँसी सुनाई दी ...उसका मन व्यथा और आशंका के बीच ठिठक गया। क्या जीवन रहा दादो सा का भी ना! जब लौट कर आये थे फौज से रिटायर होकर, पूरे गाँव को खुशी हुई थी। जब वो किस्से सुनाते तो सबको लगता कि वे बाहरी दुनिया से कटे-छँटे नहीं हैं। लड़के फौज में जाने का सपना पालते। एक किस्सा तो आज भी दादोसा पीपल के चबूतरे के नीचे चौपड़ खेलते, लोगों के कहने से सुनाते मिल जाते हैं। वह भी इस किस्से पर खूब हँसती है...

''लादू काका, वो किस्सा सुनाओ तो नेहरू जी वाला।''

''हैं छोरो! कितनी बार सुनोगे वोइच किस्सा?''

''आप हर बार उसको बदल जो देते हो काका!''

''हाँ तो भूल भी तो जाता हूँ, कितना समय बीता। मैं एकदम जवान था और पहली पोस्टिंग ही दिल्ली सप्लाई कोर में... उस रोज हेडक्वार्टर पर मैं गार्ड ड्यूटी पर था, उधर से नेहरू जी आते दिखे, मैं राइफल तान कर बोला– हॉल्ट... हॉल्ट! नेहरू जी तुरन्त ढभग्या... और घणा राजी हुआ। बोल्या– शाबाश जवान, क्या नाम, कहाँ के हो...? मैं बोला– सर नायक लादू सिंह, धौलाकोट गाँव, प्रतापगढ़ राजस्थान से। नेहरूजी ने मेरा कन्धा थपथपाया, बोले– शाबाश यंग मेन, बहुत अच्छी ड्यूटी करते हो। फिर थोड़े दिन बाद मैं केजूली छुट्टी पर गाँव आ रहा था तो जैसे ही किट लेकर गेट से निकला तो नेहरू जी ने मुझे देख लिया... तुरन्त पूँछा... भई! नायक लादू सिंह किधर जाते हो? मैंने कहा– केजूली पर गाँव जा रहा हूँ। नेहरू जी बोले– अरे मैं भी मद्रास जा रहा, आओ तुम्हें छोड़ दूँगा गाँव! और भाई नेहरू जी ने फट से मुझे हेलीकॉप्टर में बिठा लिया। मैं खिड़की से बाहर देखता आ रहा था तो मुझे उदयपुर दिख गया, मैंने कहा... साब ढबो!... मेरा गाँव आ गया। बस नेहरू जी ने मेरे को वहीं उतार दिया और मैं बस पकड़ कर आ गया।''

''गजब काका''

''हाँ भाई नेहरू जी तो नेहरू जी ही थे!''

सुरमन तो क्या जानती जो सूबेदार लादूसिंह पर बीता। उसने तो आँख ही साठ बरस के दादोसा की गोद में खोली थी। पाँच बरस पहले जब वह सोलह की हुई थी और उसे जिन्दगी ने पहला घाव दिया था, उस रात दो पैग रम लगा कर दादोसा ने पूरा अतीत उसके आगे पसार दिया था कि वह जान सके कि उसके जीवन के संक्षिप्त-से इतिहास में कौन-सा काला धब्बा था कि हर बनती, बिगड़ती चली गयी।

''तब जिला नहीं बना था... प्रतापगढ़। बसें नहीं चलती थीं, बैलगाड़ी से तहसील भी दूर पड़ती थी ...जंगल खूब घने, जमीन खूब उपजाऊ। अफीम-डोडा उगाने पर कोई खास पाबन्दी नहीं थी। मिट्टी में लगा श्रम फलता-फूलता था। जमीन से लोग एक साथ कई फसलें लेते थे। बाजार-हाट से दो-चार जिन्स ही आते। कपड़ा, नमक और तेल। दस-ग्यारह जातियाँ गाँव में, भील-गमैती आदिवासी जंगल में। आदिवासी भी कत्था, शहद-मोम और भेड़ पालन से सन्तुष्ट। देश की आजादी में यहाँ के आदिवासियों का भी हाथ लगा था। देश की आजादी के बाद तो छोटे-मोटे मन-मुटाव और रावले के रौब-दाब के बावजूद हँसता-खेलता जीवन चल रहा था। माही नदी की कल-कल के बीच बाहरी दुनिया से कटा हुआ गाँव। यहाँ से बस अफीम तस्करों के हाथ बाहर जाती या कुछ बिगड़ी लीक के मेरे-जैसे पागल छोरे फौज में भर्ती के लिए उदयपुर से रेल पकड़ने निकलते।

❑ पड़ताल

स्त्री-विमर्श की जमीन

नीरज खरे

इधर कहानियाँ देशजता की ओर आकर्षित हैं। उनमें आंचलिकता आने के सायास कारक भी अर्थपूर्ण हैं– सिर्फ रस्मअदायगी नहीं। वे दिन लद गये, जब कहानी को गाँव और शहर में बाँटते थे। अब कहानी में अपने भूखंड की आंचलिक पहचान इस तरह जरूरी कारक बनती है कि 'स्थानीयता' के नजरिये से 'देशकाल' को जान सकते हैं। हर कहानीकार का अपना 'लोकेल' है– एक हद तक वही उनकी दृष्टि का निर्धारक भी। मनीषा कुलश्रेष्ठ के लेखन की निरन्तरता में वह इलाका राजस्थान का ग्रामीण और जनजातीय जीवन है– जिसके 'स्त्री जीवन' की जटिलताओं, संघर्षों और पीड़ा को; वे शिद्दत से दर्ज करती हैं। उनकी ताजा कहानी 'जमीन' उनके विमर्शों का अगला ठिकाना है। बल्कि, यहाँ राजस्थानी बोली-बानी से गहराते यथार्थ की जमीनी रंगतें ज्यादा विश्वसनीय हो उठी हैं।

कहानी कोई-न-कोई सच कहने को लिखी जाती है, पर उस कहने से ही हर कथा ज्ञात को भी नया करती है। उसे लाने के निमित्त वह अपने साथ बहुत कुछ कहा-अनकहा बहा लाती है। अस्मितामूलक विमर्शों के जमाने में जब कहानी स्त्री ने लिखी हो; तो एक अतिरिक्त अपेक्षा पहले ही बनती है कि अपने वर्ग यानी स्त्री की दुनिया को कैसे देखा गया है? कभी इस तरह देखना खास तौर से अपेक्षित भी हो सकता है। जाहिर है यह कहानी भी इसी नजरिये से देखने की अपेक्षा रखती है। लेकिन उसे विमर्श के मानवीय कोण से देखा गया है, इधर चल रहे फैशन और फार्मूलों से नहीं। इसीलिए कहानीकार ने किसी गढ़े गये निष्कर्ष या विद्रोह को अस्वीकारा है। अन्त में जाकर कहानी पाठक के प्रश्नों, संवेदना और अपेक्षाओं को पीछे ठेलती हुई– ठेठ सचाई थमा जाती है। डालचन्द को पुलिस के हड़काने से अन्दाजा शायद लग चुका था कि सुरमन के सम्पर्क शहर में किसी मददगार से जुड़े हैं, इसलिए जमीन को हथियाने के लिए उसने क्रूर हिंसक इरादों को जल्दी ही फलीभूत कर डाला। और, सुरमन की लड़ाई वहीं थम गयी! कथाकार चाहतीं तो नरवर, सुमेर और वसुधा के चरित्रों को थोड़ा और उठाकर सुरमन की लड़ाई को धार दे सकती थीं; पर इसे परिणामग्राही कहानी नहीं होना था।

पुरखों की जमीनों पर बेटियों के दावों को पितृसत्ता के पोषक हमेशा नकारते रहे हैं। ब्याहने के बाद बेटियों और भाइयों आदि में अक्सर परिवारिक समझदारी हो जाया करती है और लड़कियाँ अपना हक छोड़ भी देती हैं। लेकिन, श्रमशील किसान बालिका सुरमन की पारिवारिक परिस्थिति ऐसी नहीं है। उसके संघर्ष का मौजूँ सवाल है कि पिता और सगे भाई के न होने पर दादोसा द्वारा उसके नाम लिखी गयी जमीन पर उसका पूरा हक क्यों न हो? जबकि दादोसा के सौतेले भाई और उनकी सन्तान उस पर पूरा नाजायज कब्जा चाहते हैं। इसकी मार्फत स्वाभिमानी, आर्थिक नजरिये से स्वाधीन, साहसी और मिलनसार स्त्री के रूप में सुरमन की मौजूदगी उल्लेखनीय है। उसके हक और संघर्ष को हतोत्साहित या कमजोर करने रची गयी, अपने ही कुटुम्ब की पुरुष दबंगई से, वह डरती नहीं है। यही नहीं, उसे अकेला जानकर गाँव के सामन्तवाद की नयी नस्लों की गुंडई भी वह फटकने नहीं देती। सुरमन की केन्द्रीयता के बावजूद जमीनी हक के निहितार्थ यहाँ इकहरे नहीं हैं, वे बरास्ते मुकुन्दी और वसुधा के उपप्रसंगों में भी अर्थगर्भित हैं। इनसे उपजा विमर्श गौरतलब है कि औरतें पुरुषों की हिस्सेदारी के लिए सिर्फ जमीनें नहीं हैं, जिन पर बीज रोपने वाले सिर्फ पति-पुरुषों का ही हक हो! इनकी उपस्थिति से स्त्री के वस्तुवादी मूर्तिकरण का नकार भी पेश है। स्त्री की मानवीय आकांक्षाएँ हैं। वह सोच, शिक्षा और स्वावलम्बन से कथित नियतवाद के बाहर आ गयी है– जिसे मुकुन्दी और वसुधा से जुड़ी कड़ियाँ बाकायदे खोलती हैं। सुरमन-मुकुन्दी-वसुधा की त्रयी के तीन स्त्रीपक्षीय स्तर हैं– जिनमें प्रेमाकांक्षा, आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान ही नहीं; विवाह संस्था और सन्तानोत्पत्ति जैसे मुद्दे भी जिरह में आये हैं। इस तरह कहानी स्त्री को जमीन कहलाने के कथित रूढ़िगत विचार का प्रतिलोम भी है। स्त्री का 'जमीन' पर हक सिर्फ अभिधा में नहीं, व्यंजना के स्थल भी काबिलेगौर हैं।

हिन्दी विभाग,
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी- 221005 (उ.प्र.)
मो. 9450252498

''जंगल के भैरव देवता की पूजा विशेष रूप से होती थी। खास मौकों पर लोग जाग लगाते, भोपा बुलाकर फड़-कथा रात भर चलती। किसी ना किसी आदमी या औरत के शरीर में देवता या माता आती, लोग अपने दु:ख-सुख कहते। छोटी-छोटी इच्छाएँ। फसल अच्छी हो, औलाद हो, औलाद का ब्याव हो, पशु बीमार ना हों, जंगल घास से भरे रहें। मेरे बाप जी सिद्ध व्यक्ति थे, भविष्य बताते थे। मेरे जन्म पर उन्होंने ही अपने खेत के कुएँ वाला पाकड़ का पेड़ लगाया था कि मेरी पत्री के अकालमृत्यु दोष कुछ कम हो जाए। पाकड़ मेरे से भी आगे-आगे बढ़ा। बेटा! पाकड़ बड़ा पवित्र पेड़ माना जाता जिसके उत्तर दिशा में लगाने से बहुत से ज्योतिषीय दोष दूर होते, उस पर यह कफ-पित्त दोष को भी दूर करने में रामबाण। फलों के कारण इस पर पर हजारों तरह के पंछी आते थे– ऐसे-ऐसे रंगों के, ऐसी-ऐसी आवाजों वाले, मोर क्या नाचता है जो वो पंछी नाचते थे। आह! अब उनमें से ज्यादातर नहीं दिखते। ईश्वर जाने कहाँ गये...

''बाप जी का कहा लाम पर भी सच नहीं हुआ। मैं हर लाम से सलामत लौटा। बस लगन बहुत उमर लगने पर हुआ, मैं तो करना नहीं चाहता था पर बाप जी की आखिरी इच्छा। वैसे उनकी आखिरी इच्छा दो थीं, एक उनकी समाधि पाकड़ के पेड़ के नीचे बने और मैं तेरह साल की केतकी से लग्न कर लूँ। कहाँ मैं पैंतीस का अधेड़, मेरा जी नहीं मानता था। लग्न हुआ, अच्छी निभी हमारी। तेरा बाप सूरज जन्मा, सोचा था अब जीवन में प्रकाश होगा। हुआ शुरू में, फिर अन्तहीन ग्रहण। दस एकड़ बाप जी हम तीन भाइयों, एक मैं, दो सौतेले... के लिए छोड़ कर गये थे। दस अलग से मैंने ले ली। सब सामेले में खेती करते रहते, बाप जी मरे बस जैसी की रीत जग की सब बँट गया।

''सूरज आठवीं में था जब मैं रिटायर होकर आया। खूब पैसा मिला था, कुछ हजारेक क्वीन विक्टोरिया वाले कलदार भी थे। बस तभी एक भयानक आँधी में पाकड़ के पेड़ के आधे हिस्से पर बिजली क्या गिरी, मेरे लिए भी फरमान आता दिख गया मुझे। तेरी दादीसा का लाड़ला कब कलदारों से खेलते-खेलते पढ़ाई छोड़ जुआ खेलने लगा... एक दिन आधे कलदार उड़ गये तब मैंने उसे बेल्ट और बूट से खूब कूटा, इतना कि बीस दिन बिस्तर में पड़ा रहा। जिस रोज ठीक हुआ, मुझे आँखों से चबाता रहा। कितना समझाया। आनन-फानन में उसका लगन किया मगर उसकी आदत आधी जमीन खोकर और आधे डाँगर खाकर भी नहीं छूटी। मैंने सब जगह ताले लगाये तो बाहर चोरी करने लगा। और क्या कहूँ बेटा, मौका देख उसने मुझे... छोड़ बेटा क्या कहूँ, किस्मत का खेला था!''

''दादोसा, मैं भी आँख-कान खुले रखती हूँ। कुछ तो अन्दाज मुझे भी है। आप तो बताओ असल सच।''

''भादों के बरसती रात थी, सूरज घर में घुसते हुए बोला– शश... हुकुम सुनिए! ये आवाज! लगता है कुएँ के पास कोई जंगली जिनावर है... दो बटाईदार पाटल में सोते हैं। मुझे सोचना चाहिए था कि इस हरामखोर को बटाईदार मजूरों की क्या परवाह और आज इसकी आवाज इतनी नरम कैसे? मैं भीतर से 303 राइफल उठा कर बाहर आया, मेरे पीछे सूरज। मैं जब कुएँ की जगत पर पहुँचा। बस! मेरी अपनी औलाद ने एक सेकंड नहीं दिया। पीठ पीछे से धक्का दिया। पीठ पीछे का घाव तो कभी लाम पर दुश्मन ने नहीं दिया। सुबह तक मैं आधे से ज्यादा भरे कुएँ में ऊभ-चूभ होता रहा। जब बेहोशी छाने लगी तो मैं दम लगा कर चीखा। जल्दी उठे बटाईदारों ने सुन लिया। पानी सीने में भरने से निमोनिया हो गया। तब मिलिट्री हॉस्पिटल एक हरकारा भेजा गाड़ी आई। तब तक पता चल गया था, सूरज गायब है और बिंदणी हमल से है। मैं ठीक होकर घर लौटा तो पता चला की बिंदणी तुझे जनम कर मर गयी। अधजले पाकड़ की तरह एक दिन मैं तेरी दादी को भी खो बैठा और रह गये मैं और तू! बहुत मन किया था कि मैं तुझे तेरे नानेरे छोड़, जमीन बटाई पर डाल कहीं कलकत्ता-बम्बे चला जाता। तू तो कौर नहीं खाती मेरे खिलाये बिना।'' कह कर दादोसा रोने लगे।

''बेटी मैं माफ कर चुका उसे, पता नहीं तेरा बाप अभी जीवता भी है कि नहीं? दुनिया से जाती हुई लाड़ी के जुड़े हाथ और बुदबुदाना मुझे आज भी याद आता है– इनको माफ कर देना!''

सुरमन ने भी यह बात अपने कंठ में नीले विष की तरह धारण कर ली। दादोसा कहते थे कि परिवार एक जंगल की तरह होते हैं, जब आप बाहर होते हैं, तब यह घने और साथ-साथ लगते हैं, जब आप अन्दर होते हैं तो पता चलता है कि ये भी अपने हिस्से की जमीन के लिए आपस में लड़ते हैं।

अब दादोसा अस्सी के पेटे में। दिमाग-दिल और देह एक साथ नहीं चलते। उन्हें अपने पैरों पर आस्था नहीं रही, लाठी टेकते हैं। पता नहीं कब कौन-सा अंग दगा दे जाए। दीमक की बाँबी बढ़ती जा रही है। जाने किस अन्धड़ में यह पुराना पाकड़ ढह जाए। चिन्ता में डूबी सुरमन दादोसा को अदरक और हल्दी डला दूध देकर ऊपरी मंजिल की छत पर चली आई। हर तरफ चाँदना बिखरा था। चौतरफा खेतों के उत्तरी कोने में बना यह आधा पक्का और आधा कच्चा दुमंजिला घर अब एक जेल लगता था। उसे घुटन होती, कुर्ता कस जाता। अजीब सपने दिखते– ऐसे कि जिनको किसी को बता नहीं सकती थी। जो उसमें एक उबाल भर जाते... इन सपनों की दुनिया से होकर

मनीषा कुलश्रेष्ठ के यहाँ जो विस्तृत रचनात्मक वितान है, वह चकित करता है। वे नितान्त अलग-अलग कथा-भूमि पर बिल्कुल सहजता से चलती हैं। बहुत समृद्ध भाषा उनकी शक्ति है। अलग-अलग स्थितियों को पूरी प्रामाणिकता से रचना उन्हें आता है। सतर्क शोधधर्मिता और समग्र दृष्टि उनके लेखन को पाठकों और आलोचकों के लिए विशिष्ट अनुभव में बदलती है। वे हमारी पीढ़ी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेखकों में हैं।

प्रियदर्शन

उसने उमर का बाइसवाँ साल पूरा किया था। लग्न-लग्न करते दादोसा तक अब भूलने लगे हैं यह चिन्ता... वह बस लग्न के नाम पर तैश से भरी है।

रिश्ते उसके भी आये... सोलहवें बरस में लगते ही एक जगह लग्न लगभग पक्का हो गया था। दोनों एक-दूजे पर रीझे भी। उस दिन होली की गैर हुई थी, सुमेर भी नाच रहा था। फौजी कट बाल, जींस की पैंट में बहुत जँच रहा था। एनुअल लीव पर आया था, उसे लगा लग्न करके ही जाएगा। लेकिन पता नहीं किसने वो बरसों पुरानी बात उनके घर पहुँचा दी। लग्न होने से पहले टूट गया। पितृ-हन्ता सूरज की बेटी... को फिर दूजवर के रिश्ते ही आये। प्रीत है, कोई पान तो नहीं कि किसी फेरा हुआ भी खा लो। अब उसे ब्याव करना हीच नईं! पैसे जमा करने हैं।

सोने के पहले ही उसने फैसला कर लिया था– उसे जेब में नकद चाहिए। इसके लिए वह पौध बेचने पास के शहर जाएगी। सुबह उठी तो देखा, छाछ-राबड़ी जीम के दादोसा, बुवाई के पुराने बीजों को छाँट कर अवेर रहे थे। यह काम उनका प्रिय काम है। इसमें उनका आधा दिन लग जाएगा। तब तक तो वह लौट आएगी। उसने मोठ की दाल बनाई और बाजरे के रोट सेंक कर रख दिये। सकोरों में उसने सब्जियों की पौध रखी, काली पॉलीथीन थैलियों में फूलों और फलों के छोटे पेड़ रख टोकरी भर ली। उसने कैशव हलवाहे को कहा दादोसा से कहना, मैं हाट जा रही हूँ। खेत के सड़क पास ही थी, हर घंटे पर शहर के लिए बसें चलतीं, कुल चालीस मिनट का रास्ता।

दशक-भर पहले ही जिला बने इस कस्बेनुमा शहर के नये बस स्टैंड से नयी कोलॉनियाँ लगी ही हुई थीं। एक से एक बँगले एक सीध में बने हुए थे। संकर नस्ल के पेड़-पौधों से सजे हुए बगीचों के लिए कौन गेन्दे और देसी गुलाब लेता? सपाट बिना पेड़ों वाली, बिना प्याऊ वाली सड़क पर चलते-चलते उसे बेहद थकान और ऊब हुई।

उसकी उचाट-सी निगाह सड़क किनारे बने नये दुमंजिले मकान की खिड़की में बैठी एक औरत पर जा टिकी। पूगल की पदमण जैसा सुनहरा रूप! वह हाथ में किताब लिये एक शून्य को ताक रही थी, जबकि खिड़की के छज्जे पर कबूतर का जोड़ा चोंच लड़ाता हुआ हुमक रहा था। वह जिस तरह से एक बोतल की तरह अपने आप में बन्द थी, सुरमन ने दो बार सोचा आवाज लगाने से पहले।

''ओ मैडम जी, पौधे लाई हूँ... गुलाब, मोगरा, हजारी गेन्दा! फल के भी हैं– जामफल, देसी अनार, करोन्दा, मीठा नीम! मैडम जी आपके घर के आगे ये खाली जगह भर जाएगी... मेरी बोहनी हो जाएगी...'' वह औरत कुछ देर अनमनी उसे देखती रही, फिर खिड़की से गायब हो गयी। एक तयशुदा समय तक सुरमन ने इन्तजार किया, फिर टोकरी कमर से टिका आगे बढ़ी। कुछ कदम चली ही थी कि एक मदालस मीठी मगर गहरी आवाज सुनाई दी– ''सुनो, दिखाओ ना पौधे...''

सुरमन पलटी और अब वो दोनों आमने-सामने थीं। वह सादगी के ठाठे मारते समन्दर में एक रोशनी की मीनार-सी थी। लम्बी और उदास। हरे-हरे ताजा पौधों को देख उसके चेहरे की उदासी कुछ मिटी...

''मैडम जी, मेरे मोगरे के पौधे भले शहरी मोटे फूलों वाले मोगरों जैसे न हों पर पक्के मोतिया हैं, भरे जेठ में भी सैंकड़ों कलियों से भर जाते हैं। भले इनका फूल एक रात चले, पर इसकी खुस्बू तीन घर छोड़ कर भी चौथे घर पहुँच जाए। ... अच्छा मोगरा न भाए तो ये पोई ले लो न! इसमें फूल तो नहीं

आते मगर लाल-लाल फल आते हैं। बेल बहोत सुन्दर लगती है मैडम जी। इसके फलों रस निकलता है– आलता जैसा। हम बचपन में माँड़ लेते थे।''

''तुम्हारा नाम क्या है?''

''सुरमन।''

''सुरीला नाम है... पढ़ाई की?''

''दसवीं पास हूँ मैडम जी।'' सुरमन ने गर्व से कहा।

''कनुप्रिया पढ़ी है... हिन्दी कविता की किताब...''

''नहीं मैडम जी... बस पास हो गये, कुंजी पढ़ कर।''

''छोड़ो जाने दो...''

''तो भी क्या, बताओ न मैडम...''

''उसमें इसी पोई की लतर का जिक्र था कि कृष्ण जंगल में उगी पोई की लतर के फूलों के रस से राधा के पैरों में आलता लगाते थे।''

''हैं! हाँजी....! ये तो भजन जैसी बात हो गयी...''

''भजन ही मान लो... तुम्हें आते हैं राधा-कृष्ण के भजन?''

''मेरे दादा वैष्णव संगत करते हैं... उनको आते हैं।'' तभी उसे समय की याद आई...

''लोगे आप पौधे कि...'' वह निराशा से समेटने लगी काली पन्नियों में मिट्टी थामे गुलाब, मोगरा के पौधे और कुल्हड़ों में लगी गेन्दा, टमाटर, मिर्ची, गोभी, मूली की पौध।

वह कुछ गर्भक्लान्ति और मीठी उदासी के झीने पर्दे से बाहर आई।

''सुनो तुम अगर इन्हें लगा भी जाओ तो मेरे लिए अच्छा रहेगा। मेरे पास माली नहीं है।''

''लगा दूँगी... मेरे हाथ के पौधे बहुत फलते। मेरी मानो तो अमरूद भी लगवा लो आगे बालक खाएँगे।''

''बालक! मुझे नहीं पसन्द कि बच्चे मेरे घर अमरूद के लिए पत्थर फेंके। बस तुम मोगरा और गेन्दा उधर लगा दो। पोई की लतर खिड़की के नीचे।''

पत्थर तो होते ही हैं फले हुए गाछ की किस्मत में! सुरमन ने गहरी साँस ले थैले से खुरपी निकाली और बहुत प्यार से पौधे रोप दिये। मुँह-माँगे दाम तो मिले ही, वसुधा ने रोपने के भी पचास रुपए बढ़ाये तो सुरमन हिचकने लगी।

''ले लो, मेहनत की है तुमने। अगली बार आओ तो मेरे लिए चमेली की बेल लेती आना।''

''मैडम जी, पहली बार इधर आई हूँ पौधे लेकर, ये बिके तभी आऊँगी न दुबारा। बस लेकर गाँव से... आना...''

''बिक जाएँगे। तुम कितने सस्ते भी बेच रही हो, सुनो वह चौथा घर है ना, वो लोग बागवानी के बहुत शौकीन हैं।''

''ठीक, आपके लिए अगली बार अपने खेत के आँवले लेती आऊँगी।'' सुरमन से वसुधा को गौर से देखकर कहा। वसुधा ने पेट के उभार को बन्धेज के हरे दुपट्टे से ढँक लिया।

सुरमन जब लौटी तो उसके पास पाँच सौ रुपए थे और भीतर महसूस होती एक ताकत थी। दोपहर बीत चुकी थी, मगर लगता है दादोसा को खाने की फुरसत ही नहीं मिली। उसने मोठ की दाल गरम की और थाली परोस कर खेत में बने कच्चे गोदाम में दादोसा को बुलाने पहुँची। दादोसा पगड़ी उतार कर, एक गोल टंकी खोल कर बहुत सारे यूरिया के खाली बोरों के मुँह बाँध रहे थे। किशन पहले से लिखी पर पर्चियाँ उन पर चिपका रहा था।

''आता हूँ, बस हो गया। इधर आ, देख और समझ ये हमारे पुरखों के छोड़े बीज हैं। इनमें से कुछ पाँच साल बाद भी उग जाते हैं, कुछ साल-भर में ना उगाने पर खतम हो जाएँगे। ये मेरे हाथ की लिस्ट है और ये डब्बों में नम्बरवार बीज हैं। चाहे कितने नये बीज उगाना, मगर ये पुराने बीज उगते रहने चाहिए। वो सलेटी डब्बे में ऐसी मीठी मक्का है जो दो सौ साल से हमारे खेत में ही उगती है। इसकी गुड़ राब खा ली तो रबड़ी भूल जाएगी। इसमें पौष्टिक बाजरा का बीज जो चार साल तक भी रखकर उगाया जा सकता। कुपोषण वाले बच्चे या गर्भवती औरत खा ले तो दो दिन में तन्दुरुस्त। चना, मूँग, सरसों, तिल, सबके बीज अपने हैं। ये डायरी है, इसमें सब लिखा है। याद रख सुरमन, एक बीज में एक सृष्टि बसती है, एक भी नस्ल नष्ट ना हो।'' अपने दादा की अनमोल विरासत पुरानी, घिस चुके लैदर कवर वाली उस डायरी को सुरमन ने उठा कर सीने से सटा कर सोचने लगी, बीज तो वह अवेर लेगी मगर उनके खेत तो डालचन्द के हाथ से बच जाएँ। वह इन खेतों के लिए किसी हद तक जा सकता है। दादोसा ने खाना खाकर खाट के नीचे काँसे की थाली सरका दी और अपनी सफेद मूँछों को पोंछने लगे...

''दादोसा, आप डालचन्द की पुलिस में शिकायत क्यों नहीं करते? कितना बरदाश्त करें?''

''उसका बाप मेरा सौतेला भाई है। मैंने उस घर के मरण-परण में जाना छोड़ दिया। पटवारी और पंचों को ताकीद की, उसके बाप को धमकाया और क्या करूँ। अपनी जमीन तेरे नाम की है, थोड़े दिन तो छाती सुलगेगी ना! कुछ दिन उत्पात मचा कर चुप हो जाएँगे। उन्दरे के जायडे तो बिल ही खोदेंगे!''

''मुझे तो डर लगता है दादोसा!''

''तू मानती कब है वरना तेरे डर का उपाय तो तेरा उससे लग्न ही है।''

''ले-दे कर आपको वो लँगड़ा ही दिखता है?''

''तुझे लँगड़ा लगेगा ही, मेरी नजर में वह जाँबाज सिपाही है, गोली खाई है उसने...''

''दादोसा! तो फिर इस आपके जाँबाज ने अपने माँ-बाप के कहने से गोली लगने से पहले मेरा रिश्ता क्यों फेरा?'' सुरमन अब सुमेर का नाम सुनते ही दादोसा के खेत में लगने वाली 'पूसा ज्वाला' नस्ल की मिर्च हो जाती है।

''दादोसा! क्या इसी भरोसे जमीन मेरे नाम की? क्या केवल मर्द ही जोत सकते जमीन?'' पता नहीं दादोसा ने सुना या अनसुना कर दिया, वे अपनी डायरी में पुरानी बोसीदा कलम से कुछ लिख रहे थे। सुरमन की जेब के पाँच सौ रुपए उसकी रीढ़ में जा जमे थे। वह थोड़ा और तन गयी थी।

''मैं अगले सोमवार फिर शहर जाऊँगी।''

''**मेरी** चमेली लाई सुरमन?'' उसे देख वसुधा खिड़की से चहकी। जब वह सामने आ बैठी तो सुरमन ने गौर किया कि उभार अब बड़ा है और इस बार उदासी एक उनियार में बदल गयी थी। यूँ भी तीसरे महीने बाद औरतें भीतर से केसर क्यारी बन जाती हैं... सुरमन फुसफुसाई- ''पूगल की पदमण!''

''क्या?''

''मेरे दादोसा कहानी सुनाते हैं– पूगल की पद्मण की। आप वैसे ही फूटरे दिखते हो। नजर उतरवा लेना जीजी! सोरी! मैडम जी।''

''सॉरी क्यों? जिसके हाथ से लगे पौधे झटपट बढ़ जाएँ, उसकी नजर लगेगी? देख तेरी लगाई पोई... खिड़की पर लूम रही है। ये मैडम मुझे भी अटपटा लगता... जीजी ठीक है। क्या बात है सुरमन, आज तू कम पौधे लायी, तेरा मन फिर गया क्या पौधे बेचने से? बिकते नहीं क्या?''

''बिकते हैं जीजी, पिछली बार खाली टोकरी लेकर घर पहुँची थी। आज पहले वो चौथे घर वालों के होकर आई हूँ। उन्होंने कमरख, करंज, लाल-सफेद करोंदे मँगाये थे।''

चमेली की बेल रोप कर गीले हाथ पोंछते हुए सुरमन ने झिझकते हुए कहा।

''इस बार मैं एक दूसरे कारण से भी आई हूँ जीजी। आप लोग पढे-लिखे कानून जानने वाले, मुझे आप से सलाह चाहिए। मेरे फौज में सूबेदार रहे दादोसा ने अपनी खरीदी तीन एकड़ जमीन मेरे नाम की है। उनके सौतेले भाई का लड़का उसमें से अपना हक माँग रहा, जो कि जायज नहीं। रोज मेरे घर पर भाटे फिंकवाता है, मुझे उठवाने की धमकी, गुंडों से बलात्कार करवाने की... दादोसा को खदेड़ कर बेदखल करने की धमकी कि वह जमीन उनके पुरखों की है।'' सुरमन ने पूरी स्थिति वसुधा को बता दी।

''मैं तुझे सलाह दूँगी कि तू सबसे पहले फोन खरीद, फिर पट्टे-वसीयत की कॉपी कराकर किसी भरोसेमन्द आदमी के पास रख। मेरे पति के दोस्त अपने जिला हेडक्वार्टर में पुलिस अफसर तैनात हैं। ये तो वकील हैं ही। मैं आज ही उनको भी बोलती हूँ।''

''ऐसी बातें बताकर आपका जी भी खराब किया, सोरी!''

''सुरमन, तेरे बहाने पौधों से लगाव हुआ और ना केवल इस घर का कोना, मेरे मन का भी कोना हरा-भरा हो गया। तेरे कारण एक बात और समझ आई कि बीज और पौध कहीं भी से आकर लगे, होती तो धरती ही हरियाली है ना!... जब मैं इन पौधों को रोज सींच कर इनसे मोह पाल बैठी हूँ तो... फिर!'' कह कर वसुधा ने उसका हाथ थाम लिया।

''वाह मजबूत हाथ हैं तेरे तो।''

''दीदी रोज का दराँत और फावड़ा चलाना।''

''फिर कैसे कोई इनसे कुछ भी छीन सकता? तेरे पास तो माँ काली के हथियार...''

''किरपा रहे माँ अम्बे की, लेकिन आप वकीलसाब से बात करना...''

''वो मैं करूँगी। सुन आज थोड़ा ठहर, अन्दर बैठ कर मेरे साथ चाय पी।''

वसुधा ने सुरमन को बैठक में ले गयी, जहाँ सादगी में भी सम्पन्नता छलक रही थी। वसुधा का बनाया केक सुरमन संकोच में कुतर रही थी। उसके मन में बहुत से विचार घमासान मचाये थे। क्या ये सच में सहायता करेगी? पुलिस की बात से काका-बाबा के रिश्तों में बैर की खाई तो नहीं खुद जाएगी? दादोसा क्या बोलेंगे? लेकिन चारा भी क्या है अब? किसी दिन डालचन्द के गुंडों ने उसे... दादोसा को...! उसकी पेशानी परेशानी-भरी लकीरों से भर गयी।

''जीजी, गाँव के लोग कहते हैं कि अकेली औरत यानी गाँव का तालाब... या गन्ने का लावारिस खेत होती है। और मुझे पता है कि अब मेरे दादोसा की बेला आती ही होगी।'' सुरमन रूआँसू हो गयी।

''क्या फालतू बात है! तुम दोनों में से कुछ नहीं हो। तुम खुद की वारिस हो और यह जमीन तुम्हारी शक्ति है।'' वसुधा के ऐसा कहने पर उसके चेहरे पर बड़ा-सा गुलाब का फूल खिला।

''बच्चा कब होगा?'' सुरमन ने झिझकते हुए पूछा।

''पता नहीं! मेरा बस चले तो इसे भीतर ही रहने दूँ। मुझे नहीं लगता कि यह दुनिया इसके लिए उतनी अच्छी रह पायेगी?''

''यह तो माता-पिता का काम है। बच्चे को उसके मन की

दुनिया देना।''

''पिता! यह बच्चा वैसे नहीं हुआ है जैसे तुम सोच रही हो। यह वैसे ही है जैसे कि तुम अपने खेत के लिए अपने बीज खराब हो जाने पर किसी और के बीज लो... और बिना छुये मशीन से रोप दो।''

''बाप रे! ऐसा भी होता है?''

''हाँ! सुरमन हम औरतें कहाँ हैं रे! जमीनें हैं... तुझे नहीं लगता?''

वसुधा के वजूद में कौंध गया वह दिन जिस दिन वह लड़की से जमीन बन गयी थी– ''सुनिये गौतम! हमने यह टेस्ट तुम्हें ग्लानि में डालने के लिए नहीं किया था। यह तय करने के लिए करवाया था कि... मुझे तो अपने ऊपर ही शक था। खैर... जरूरी है सब बच्चा पैदा करें? हम खुश तो हैं। जब हम बच्चा पैदा नहीं कर सकते तो कृत्रिम तरीका क्यों? क्या इस देश की जनसंख्या काफी नहीं? क्या यह प्रकृति की इच्छा नहीं? मुझे किसी अजनबी डोनर के स्पर्म से माँ नहीं बनना! मुझे तुमसे प्रेम है। बहुत है तो गोद ले लेते हैं न! अब मैं सिविल सर्विसेज की मेंस की तैयारी भी कर लूँगी।''

''नहीं! अम्माँ ने तय कर लिया है, इतना बड़ा बिजनेस... और मैं भी इकलौता!''

''दीदी के बच्चे हैं न, बेटा भी है।''

''हम बहस बन्द करें। कल गायनॉकोलोजिस्ट के यहाँ चलना है।''

सुरमन इस बातचीत से घबरा कर अपना सामान समेटने लगी।

''सही कहती हैं जीजी, हम जमीनें हैं। हमारा बचना जरूरी है।''

''जानती है, शुरू में यह अपनी धरती अकेली थी। अपने अकेलेपन से तंग होकर उसने किसी और की रचना की ताकि वह किसी से बात कर सके। उसने दो प्राणी बनाये। मगर उन दो प्राणियों ने प्रेम करके तीसरा इंसान बना कर रख दिया। तब से हम करोड़ों में बढ़ते चले गये और धरती फिर अकेली की अकेली और...''

''आप अकेली क्यों रहोगी... मुझे क्या लगता है हम दोनों से तो मुकुन्दी सही रही।''

''कौन मुकुन्दी?''

''कन्या विद्यालय से मेरे एक ही सहेली है। उसकी शादी एक खाते-पीते कुम्हार से हुई थी। उसे अच्छा रखता था, मगर फिर एक आदिवासी मेले में उसका मन एक आदिवासी लड़के के साथ जुड़ गया। तो उसके साथ भाग गयी। अब माही नदी के किनारे के जंगलों में मस्त रहती है। हर शुक्रवार गाँव की हाट के बहाने मुझसे मिलने आती है।''

''तुमने वह जंगल देखा है?''

''एक बार मुकन्दी मुझे ले गयी थी, क्योंकि मुझे आदमी चीर दे ऐसी दराँती की दरकार थी। ऐसी दराँती भील बनाते हैं। मुकुन्दी का नया पति नरवर बहुत हुशियार है। कभी चलना जंगल देखने, बहुत घने और सुन्दर... वो मुकुन्दी...''

''तू और तेरी मुकुन्दी की कथा! तू भी न, अभी कहाँ चल सकूँगी!''

''बालक हो जाए तब चलना। बालक होगा तो मैं यहाँ एक बेलपत्र का पेड़ लगाऊँगी।''

''बेटी हुई तो...''

''तो चम्पा का!''

सुरमन तो मुकुन्दी और जंगल की कथा बाँच कर चली गयी, मगर वसुधा के मन को ऊहापोह की झाड़ियों में फँसा छोड़ गयी।

''ये आजकल किन लोगों को बुलाकर बैठक में लाने लगी हो?'' देर से सोकर उठे जनमेजय ने जिस तरह खीज कर पूछा, वह वसुधा को नागवार गुजरा, लेकिन अब आदत हो गयी है टाल जाने की।

''वह मेरी सहेली है। और वो गाँव के इज्जतदार मेहनतकश लोग हैं।'' वसुधा ने भी अपने टोन में पिसा काँच लेप दिया।

''वो सब ठीक है, ज्यादा अन्दर लाना ठीक नहीं।'' जनमेजय पास बैठते हुए नरमी से बोला। वसुधा नरमी की वजह जान गयी कि फिलहाल वह उर्वर जमीन है।

''तुम समझते क्या हो यार? वह तीन बीघा जमीन अकेले सँभाल रही है और रिश्तेदार उसे तरह-तरह की धमकियाँ देकर बेदखल करने पर तुले हैं... सुनो! हमें उसकी सहायता करनी चाहिए। तुम शान्तनु से कहो न!''

''अकेली है तो कोर्ट के चक्कर में न पड़े। बाकि उसके गाँव के थाने में कहलवाने से ही काम हो जाएगा। तुमको अब तनाव नहीं लेना चाहिए, अपना और किसी और का भी।''

बूढ़ी अरावली की पहाड़ियों के पार से रोज सूरज आता रहा-जाता रहा। सर्दियों की शुरुआत में वसुधा ने सोनचम्पा-जैसी बेटी को जन्म दिया। बेटी ऐसी रूपवान कि वकील साहब के परिवार में बेटा ना होने का असन्तोष थोड़े दिन ही टिक सका। सुरमन ने पौधे बेच-बेच कर पैसे जमा करके मोबाइल फोन खरीद लिया। जनमेजय ने धौलाकोट के थाने में डालचन्द को धमकाने के लिए कहलवाया दिया था। तुरन्त असर भी हुआ। सुरमन ने चैन की साँस ली। वह निश्चिन्त होकर खेत सँभालने

अपनी कहानियों में मनीषा जो संयम बरतती हैं, वह परिपक्वता से ही उत्पन्न हो सकता है।... इनकी कहानियों में राजस्थान की नीला सन्नाटा बहुत खूब लगता है।

कृष्ण बलदेव वैद

लगी थी। शहर जाकर दादोसा को छाती के डॉक्टर को भी दिखा लायी थी। आजकल सुमेर सिंह दादोसा से मिलने आता तो वह चाय भिजवा देती थी। सब अच्छा चलता रहता तो वह आगे सोचती... मुकुन्दी की सलाह मान कर– ''सब बात छोड़, दिन के आखिर में तेरा किसी से बात करने का मन नहीं होता?'' होता था वही समय काटे नहीं कटता।

दादोसा ने शायद इसी निश्चिन्तता में सोते-सोते चले जाने का सोच लिया था... एक सुबह सुरमन उठी तो दादोसा ड्योढ़ी पर उलटे गिरे मिले। देह से प्राण निकल गये थे। उसे ऐसे में सुमेर का होना ही याद आया। वह नकली पैर लगाये बिना, बैसाखी लिये चला आया। अन्तिम कारज का सब इन्तजाम सँभाल लिया। एक फौजी का अन्तिम संस्कार था, फौजी की तरह हुआ। उनके हजारो किस्से, उनके अनुभव उनके साथ अग्नि के हवाले हुए। जब एक बूढ़ा मरता है उसके साथ अनकही महागाथाओं और अनुभव का संग्रह जल जाता है।

अन्तिम संस्कार के बाद जब वह दिया बाल रही थी, पाकड़ के नीचे, तभी आँगन बन्द साँकल के पार ड्योढ़ी पर हलचल हुई। डालचन्द गुंडों के साथ लाठी ठकठका रहा था।

''सुन रे गणपत या कमेड़ी बाज सूँ कोनी जीत सके...!'' उसका रूआँ-रूआँ काँप उठा। आँसू उबल पड़े। पाकड़ का पेड़ भी कुएँ के पास स्तब्ध खड़ा था... जमीन पर बैठकर उसने पेड़ के तने के गिर्द बाँहें डाल दीं, उसे लगा कि अब वह टूटने को है। ना जाने क्या हुआ कि कुछ ही पल में उसके अन्दर अजीब-सी शान्ति छा गयी। उसके भीतर के भय की डुब-डुब करती कमेड़ी को मार कर कोई सुनहरी सर्पिणी उसके अन्तस में आ बैठी थी।

कुटुम्ब के दबाव के बावजूद सुरमन ने दादोसा की तेरहवीं करने से मना कर दिया, एक प्रार्थना सभा रखी बस, जिसमें पूरा गाँव आया। सरपंच ने दो शब्द बोले। नकली पैर के सहारे, नयी पगरखियाँ चरमराते हुए सुमेर भी आया और कड़क सैल्यूट दिया। नहीं आये तो करीबी कुटुम्ब वाले। उसी रात उसके कवेलुओं पर सारी रात भाटे गिरे। सुरमन के भीतर की सुनहरी सर्पिणी कुलबुलाई। सुरमन को वसुधा की किताबी बातों के अर्थ भले समझ न आते हों, उनके आशय मन में बैठी यह सुनहरी सर्पिणी समझा जाती है।

''सुनो! हम औरतों के खून और मज्जा में आज भी धरती के दिये सबक रखे हुए हैं कि एक हद तक सहो, फिर हद पार हो जाए तो सब छितरा दो मनुष्य का बनाया।'' सुरमन ने मन को थपथपाकर शान्त किया।

सूबेदार लादू सिंह की प्रार्थना सभा में तो वसुधा नहीं आ पाई थी। सूतक का मामला रहा होगा। लेकिन बीसवें दिन अचानक प्रकट हो गयी अपने ड्राइवर के साथ। गोद में नन्ही बच्ची थी गुलगोथनी! गोरी गट्ट... शहद-जैसी आँखों वाली। सुरमन का सोग जाता रहा, बस उस बच्ची को सबसे पहले काला टीका लगाया, काला धागा गोरे पगों में बाँधा और उठाये फिरी।

''सुन! मुझे मुकुन्दी से मिलना है! तूने कहा था न, वह हमें जंगल दिखाएगी। आज मौका है, पूरा परिवार रिशेदारी की एक गमी में गया है।'' सुरमन उलझन में पड़ गयी। दक्षिणी किनारे के खेत में दादोसा के अवेरे मक्का के बीजों के नये पौधे आए थे, उनको पानी देना था। खेतों की तारबन्दी के लिए पटवारी के पास जाना था। पर वसुधा के लिए सब कल पर छोड़ दिया। मुकुन्दी को फोन पर बताया और चल पड़े। सुरमन ने इशारे से पूछा ड्राइवर? वसुधा ने छाती पर हाथ रख कर बताया– भरोसे का है। गाड़ी तीखे ढलान पर उतर रही थी।

''सोनू, इस आँकी-बाँकी चढ़ाई और ढलान पर चला तो लोगे न?'' पूछते हुए वसुधा ने मोबाइल फोन फ्लाइट मोड पर डाल दिया।

''दीदी फिकर न करें। मैं चीरवा की घाटी और माही के इस इलाके को जानता हूँ। देखिए वो खरगोश भगा।''

''कहाँ?'' वसुधा चहकी। ''वाह! यहाँ तो सन्तरे के रस जैसी धूप आती है।''

सीतामाता संरक्षित अभयारण्य का इलाका निकट आता जाता था और पेड़ घने दिखते जा रहे थे। वसुधा का मन सारे दृश्य पी लेना चाहता था... कहीं-कहीं उसे पहाड़ी का उत्खनन करते दृश्य दिखते तो वह अनमनी हो जाती– आखिर वह धरती की हमनाम जो थी! धरती की तरह ही उसकी भी इच्छा को कब तवज्जोह दी गयी? उसे भी मातृत्व को चुनने का सम्मान नहीं दिया गया। वसुधा को लगा, कार की खुली खिड़की में उससे बतियाती चल रही हवा कह रही है– जो कुछ कष्ट हुआ है इस धरती को वह हमारे मुँह से सुनो... बड़ा लम्बा इतिहास है। तभी तरु खिनखिना उठी दूध के लिए, सुरमन ने उसे थमा दिया। आदिवासी गाँव का मुहाना आ गया था। वहाँ बने के फूस के छप्परनुमा बस-स्टॉप पर मुकुन्दी खड़ी थी। कार रुकते देख दौड़ी।

''ए मुकु कितनी काली हो गयी रे तू... और तेरी चप्पल किधर?''

''अब चमगादड़ के घर ब्याव में तो उलटा ही लटकना।''

वसुधा जो मुकुन्दी के इतिहास से परिचित थी, उसके इस वाक्य पर खूब खिलखिला कर हँसी। मुकुन्दी सच में कामणगार नार थी, सुरमन की मानें तो, लावण्य की प्रतिमूर्ति, उस पर दूधिया हास।

''अब आगे कच्चा रास्ता है, पैदल चलना होगा।'' मुस्कराती हुई मुकुन्दी आगे हो गयी... माही नदी की पतली धार थी, फिर एक-आधा किलोमीटर की पगडंडी जिसके दोनों तरफ सेमल के ऊँचे-ऊँचे पेड़ थे।

''नरवर किधर है मुकुन्दी?''

''वो गिद्धों को छिछड़े डालने गया है, और आजकल मधुमक्खियाँ पालना शुरू किया है। उसे नहीं मालूम था कि तुम आओगे।'' जैसे-जैसे बस्ती पास आई, कई तरह के पेड़ दिखने लगे– अरडू, अर्जुन, बेर, नीम, करंज, बरगद। नदी के उस पार करील के झाड़ों पर नारंगी फूल उगे थे। एकसार पंक्तियों में लगे सागवान पेड़ों के नीचे रोमानी अँधेरा था। वसुधा को एक जापानी हाइकू याद आ गयी– रोशनी का ही/प्रेमी है ये अँधेरा/दोनों प्रगाढ़/आलिंगन में रत/हैं जंगल में।

सामने बस्ती थी आदिवासी। कच्चे घरों से धुआँ निकल रहा था। बच्चे नंग-धड़ंग खेल रहे थे। मुकुन्दी जिस घर के सामने रुकी, वह घर कच्चे घरों के स्थापत्य का बेहद सुन्दर नमूना था। फूस के घर भी इतने मोहक और बड़ दालानों वाले हो सकते हैं? इतनी सुन्दर लिपाई? मिट्टी और तार से बने झरोखे, दीवारों पर माँडने। कवेलुओं पर टेराकोटा के चिड़ी-चिड़े बिठा रखे थे। रसोई आँगन में खुली-खुली और आँगन के एक कोने चहकती हुई तीन गौरैय्या कूड़े-करकट के ढेर से कुछ बीन कर खा रही थीं। बल्कि छितरा अधिक रही थीं। कूड़ा ऐसा जिसमें सब जैविक था... छिलके, पत्ते, डंठल, कंकर, घुने हुए पके बीज। सामने फूस के छप्पर पर कुन्दरू की बेल चढ़ी थी, जिस पर परागण में सहायक तरह-तरह के कीड़ों की प्रणय चेष्टाएँ चल रही थीं।

वसुधा का मन फिर टीसा– काश! मनुष्य सड़कें न बनाता। लेकिन मनुष्य की तो आदत है, नयी बस्तियाँ बसाना और दूसरों की बस्तियों पर अपना अधिकार करना। अधिकार न कर सके तो जलता हुआ पीछे छोड़ जाना। मुकुन्दी ने सबको लिपे हुए चबूतरे पर साफ चादर बिछा कर बिठा दिया और कीकर की लकड़ी के धुएँ से अलग स्वाद देती बकरी के दूध की चाय पकड़ा दी। मुकुन्दी-सुरमन अपने सुख-दुख की अन्तरंग बातों में व्यस्त हो गयीं। तरु को मुकुन्दी ने आँगन के नीम-खेजड़ी से साफ चादर का पालना बनाकर उसमें सुला दिया था। एक क्षणांश को वसुधा को मुकुन्दी से ईर्ष्या हुई लेकिन स्वयं को उसकी जगह रख कर न देख सकी।

''आदिवासी लोग अस्सी दिन तक बच्ची को ऐसे ही सुलाते हैं– पास में चाँदना करके। लालटेन से या दीपक से क्योंकि बैमाता आकर भाग्य लिखे तो उसे ठीक से दिखे... ऐसा न हो कि आँधरे में वो टकरा जाए और स्याही ढुल जाए...'' बच्ची के झूले को घुट्नों से कोमल आघात दे मुकुन्दी भीतर चली गयी।

''मेरे साथ एकदम यही हुआ होगा...'' सुरमन उदास होकर वसुधा से बोली, वसुधा ने उसे अपने से सटा लिया।

''अब तो सब ठीक चल रहा है न!'' क्या कहती सुरमन? पुलिस की धमकी भी कितना काम करती? वह गम्भीरता से एफ.आई.आर. की बात सोच रही थी।

तभी लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ नरवर आता हुआ दिखा। चीते-सी चाल, लम्बी-दुबली गात और तपा हुआ रंग, मेहनतकशी का पर्याय-सा नरवर... मटमैली सफेद कमीज के नीचे भूरी पैंट, गले में चाँदी का माँदलिया और चमड़े की पगरखी पहने। सामने आकर सुरमन के साथ एक सुन्दर, नफीस आधुनिका को देख चौंक ही गया।

''राम-राम, कब पधारे सा?'' कहकर नरवर झुका। वसुधा अपनी उत्सुकता रोक न सकी...

''यहाँ गिद्ध हैं?''

आईसेक्ट पब्लिकेशन

द्वारा प्रकाशित

कहानी की नई पुस्तकें

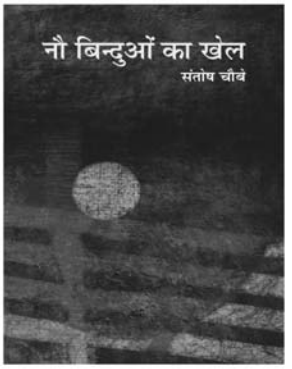

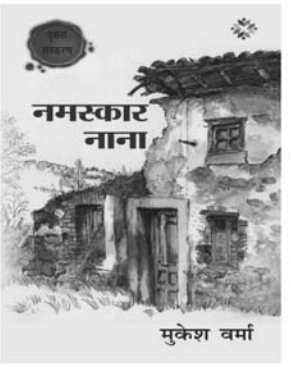

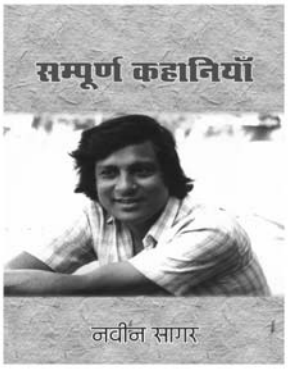

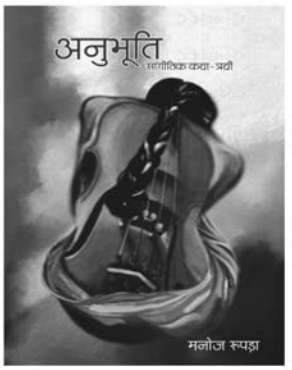

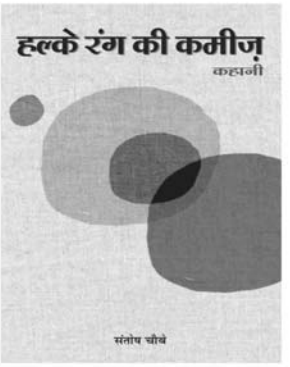

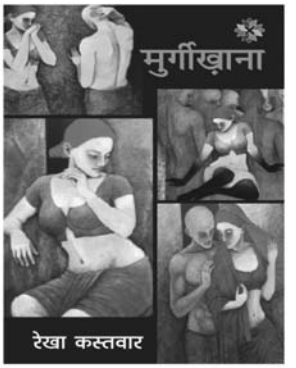

आईसेक्ट पब्लिकेशन

ज्ञान-विज्ञान, कौशल विकास तथा कला-साहित्य पर हिन्दी, अँग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में पुस्तकों और पत्रिकाओं का राष्ट्रीय प्रकाशन

ई-7/22, एस.बी.आई., अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016
मो. 8818883165 फोन : 0755-4851056
ई-मेल: aisectpublications@aisect.org, mahip@aisect.org

स्कोप कैम्पस, एनएच-12, होशंगाबाद रोड, भोपाल-462047
फोन : + 91-755-2432801, 2432830

पुस्तकें अमेजन व आईसेक्ट ऑनलाइन पोर्टल पर भी उपलब्ध

''हाँ सा! होकम बहुत समय बाद दिखे थे एक चट्टान पर दो घोंसले, तो मैंने रेंजर साहब को खबर दी, मगर कोई आया नहीं।'' अदब से उत्तर दे रहा था नरवर।

''मैं कोई सरकारी कर्मचारी नहीं। मैं सुरमन की सहेली हूँ। आप मुझे दिखाएँगे?''

''दूर हैं उस पहाड़ी पर, उधर मवेशी भी नहीं जाते... मैं अंडों पर बैठी माँ को दूर से गोश्त के छिछ्ड़े डाल आता हूँ। मैं आपको दूर से दिखा सकता हूँ।''

सुरमन दूसरी बार मिली थी नरवर से, उसे ठीक हिन्दी बोलते देख चौंकी। बहुत दिनों बाद वसुधा ने हाँडी में पकी दाल और राख में पकी बाटी खाई थी। कुन्दरू की सब्जी का यह स्वाद तो वह कभी नहीं भूलेगी। भोजन के बाद सब माही के तट तक सैर जाने के लिए निकले, मुकुन्दी बच्ची के साथ वहीं रुक गयी। नरवर ने अपना धनुष-कमान ले लिया।

''उधर कभी-कभी तेन्दुए मिल जाते हैं। वे तीर-कमान वाले भीलों को देखकर अपने आप भाग जाते हैं। कई बार बस्ती की तरफ आ निकलते हैं मवेशी उठाने... हम ले जाने देते हैं। अम्बा माँ को दी हुई बलि मान कर।'' नरवर चौकन्ना था जंगल की हर आहट पर।

''क्या करें? इनको भी भूख लगती है।'' वसुधा पानी की पतली धारा को उलाँघते हुए बोली। रास्ते में एक गहरे हरे पतले पत्तों की सुगन्धित झाड़ी के पास नरवर रुका– ''यह ज्वर-झाड़ है, कभी किसी बच्चे को बुखार हो, इस तरह की झाड़ी के पास लिटा देना चाहिए। इसकी टहनी तोड़ बच्चे को झलराना चाहिए... बुखार पौधा ले लेगा।''

''यह भुई आँवला, जिगर की बीमारी में रामबाण।''

वसुधा खुद बोटनी में एम.एससी है, मगर नरवर के ज्ञान की कोई सीमा नहीं। वह रास्ते भर बताता रहा, कौन-सा पेड़ उसके परदादा, दादा, पिता ने लगाया, यह भी बताया कि आदिवासी कभी पूरा पेड नहीं काटते।

''हमारे मन्दिर ये पेड़ हैं। हम इनको इनसे पूछ कर ही बस कुछ डगालें छाँगते हैं कि तूफान से जूझने के लिए पेड़ का बैलेंस बना रहे, गिरे नहीं। जो बिन-बात काटते हैं न! उनकी कुल्हाड़ियाँ भले भूल जाएँ... पेड़ याद रखते हैं। यही बात तीरन्दाजी की... अपने आप को बचाने के लिए ही तीर निकले धनुष से। हमारे कानून बन-भैरव के कानून हैं। ये जंगल हमारे मालिक हैं। यहाँ के जानवर हमारे साथी।'' नरवर बोलता जा रहा था, वसुधा चाव से सुनती जा रही थी। सुरमन वहाँ होकर भी नहीं थी, बस हूँ-हाँ करते हुए अपने ही भीतर के गुंजलक में फँसती जाती थी।

''कभी नरवर से सहायता माँगेगी तो करेगा? मुकन्दी बताती थी एक बार अजगर की जकड़ से अपनी बकरी निकाल ली थी।''

माही नदी की सुरम्य धारा देख कर... कुछ जंगली फल बटोर कर, पहाड़ी के नीचे से मादा गिद्ध की उड़ान देख कर सुरमन, वसुधा और नरवर लौट आये।

वसुधा जानती थी की उसके जीवन का यह दिन शायद पूरे जीवन पर छाया रहेगा। लेकिन सुरमन के जीवन में यह दिन, उसके भीतर बैठी सुनहरी सर्पिणी के फण काढ़ने का था। वसु सुरमन को धौलाकोट छोड़ कर निकली ही थी कि केशव हलवाहा हाँफता हुआ आया...

''बाइसा!'' सुरमन ने सुना कम, देखा ज्यादा। दक्षिण दिशा वाले खेत में जिसमें उसने दादोसा के अवेरे मक्का के बीज उगाए थे, उसमें डालचन्द बेखौफ हल चला रहा था और खेत की मेंड़ पर लाठी लेकर उसके पाले दो छोरे खड़े थे। उसका हाथ कमर पर बँधी दराँत पर गया, मगर उसने खुद को रोक लिया और उलटे पैर अपने घर की ढ्योढ़ी में समा गयी। उसके भीतर की सुनहरी सर्पिणी बल खा-खाकर फुँफकार रही थी और वह मुकुन्दी को फोन मिला रही थी।

अगली सुबह क्षण-क्षण का ताप झेलकर किसी तरह पूरब से उगी... धूसर और निढाल। किसी भी लड़ाई के इतिहास में इन सुबहों और उसकी थकान का जिक्र नहीं होता है।

सुबह चार बजे नरवर चीरवा घाटी उतर कर अपनी शहद-मक्खियों की देखभाल के लिए निकल गया था। सुरमन दादोसा के बीजों वाले गोदाम में पैर पेट से सटा कर गहरी नींद सोई हुई थी, रह-रह कर हुमक जाती। सुमेर रात-भर से बँधे अपने नकली पैर को कटे ठूँठ से अलगा रहा था... जो सूज कर मुगदर बन गया था। मुकुन्दी अकेली अपनी गोबर लिपी पाटल में रातघ्घ्भर करवटें बदलती रही... अब चूल्हे की गीली लकड़ियों से जूझ रही थी। आँखें सेमल के फूल-सी लाल हो गयी थीं। वसुधा सोती हुई तरु को देखे जा रही थी। जमनेजय बगल के सोफे पर बैठ सूबेदार लादू सिंह की वसीयत के कागज पलट रहा था।

धौलाकोट और आस-पास के गाँव के लोग झुंड बना-बना कर खेत और जंगल के बीच के मुहाने की तरफ जा रहे थे। खबर थी कि एक खड्डे में पैंतीस साल के आदमी की अधखाई लाश पड़ी थी। आस-पास गुलदार के पंजों के निशान थे। सुनहरी सर्पिणी मन्थर गति से रेंग कर धरती की तह में समा गयी थी। उसकी नीलम आँखें अब ईश्वर की निगरानी पर थीं।

मो. 9911252907

दस कहानियाँ

❑ मनीषा कुलश्रेष्ठ

मनीषा कुलश्रेष्ठ

एलिस के वंडरलैंड और यथार्थ के जादुई सम्मिश्रण की कहानीकार

पंकज सुबीर

कहानियाँ क्यों लिखी जाती हैं, या हमारे पूर्वज क्यों कहानियाँ कहते रहे। कितनी सारी कहानियाँ श्रुति के माध्यम से बरसों-बरस से जीवित हैं। किसने कही होगी सबसे पहली कहानी? और क्यों कही होगी? किसी दादी या नानी ने अपने रोते हुए नाती-नातिन/ पोते-पोती को मनाने के लिए कही होगी क्या? या कुछ ऐसा घट गया होगा, जो कहानी-जैसा बन गया होगा और उसी को कहानी के रूप में जेहनों में सुरक्षित रख लिया गया होगा। यदि सुरक्षित रख लिया गया होगा, तो उसमें ऐसा क्या होगा, जिसके कारण वह सुरक्षित रहता चला आया होगा पीढ़ी दर पीढ़ी। निश्चित रूप से ऐसा तो कुछ रहा ही होगा, जिसने उस कहानी को काल का अतिक्रमण करने-योग्य बना दिया होगा। एक तत्त्व होगा कथारस, जिसके कारण उस कथा में हमेशा सुनाये और सुने जाने की सम्भावना बरकरार रही। और एक तत्त्व होगा उस कथा में कई कालखंडों को पार करते हुए समकालीन बने रहने का गुण। कहानी वही होती है, जो पुरानी नहीं हो पाये। पात्र, परिवेश, प्रसंग भले ही कहानी के पुराने हो जाएँ, लेकिन कहानी की आत्मा हमेशा समकालीन बनी रहे। अब तो समय के साथ परिवर्तन की गति कुछ अधिक तेज हो चुकी है, कम से कम पिछले पचीस-तीस साल से तो यह हुआ ही है कि परिवर्तन कुछ अधिक रफ्तार के साथ हो रहा है; लेकिन अगर हम हजार-पन्द्रह सौ साल पहले की बात करें तो परिवर्तन इतनी तेजी से नहीं होते रहे होंगे, चार सौ-पाँच सौ सालों तक स्थिरता-जैसा रहती रही होगी। ऐसे में कहानियाँ भी उस समय में स्थिर भाव से सुनी-सुनाई जाती रही होंगी। अब यदि आज से पचास या सौ साल बाद भी सुनी-सुनाई जाने वाली कहानियों को आज के समय में खड़े होकर देखें तो कुछ नाम और कुछ कहानियाँ मिलती हैं, जो शायद उस समय में भी सुनी और सुनाई जाती रहेंगी। पचास या सौ साल इसलिए, क्योंकि अब समय की गति बहुत तीव्र है, पता नहीं उसके बाद क्या होगा! खैर तो उन कुछ नामों और कहानियों की तलाश में हम पहुँचते हैं मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों तक। उनकी वे कहानियाँ जो समय के कई-कई पड़ाव पार करके समकाल में स्थिर बनी रहेंगी। जिनमें हर समय में ताजा बने रहने की सम्भावना बनी रहेगी। और यह कहानियाँ हर्बेरियम में संरक्षित करके रखे गये फूलों और पत्तियों की तरह नहीं होंगी, दबी हुई, सूखी हुई; यह कहानियाँ जीवन से भरी हुई होंगी, उसी खुशबू से महकती हुई, जो खुशबू इनमें उस समय थी, जब इनको रचा गया था। फॉसिल्स में जीवन नहीं होता, जीवन की कहानियाँ होती हैं, लेकिन साहित्य वह नहीं होता, जो फॉसिल्स की तरह हो। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियाँ फॉसिल्स बनना स्वीकार नहीं करती हैं, इसीलिए यह कहानियाँ काल का अतिक्रमण अपने बूते पर करती हैं/करेंगी।

एक बार नौशाद ने मदन मोहन से कहा था कि मेरा सारा संगीत ले लो और मुझे फिल्म 'अनपढ़' के दो गीत दे दो, एक 'है इसी में प्यार की आबरू, वो जफा करें मैं वफा करूँ' और दूसरा ''आपकी नजरों ने समझा प्यार के काबिल मुझे''; मेरे विचार में इसी प्रकार की दो कहानियाँ मनीषा कुलश्रेष्ठ के पास हैं पहली 'कठपुतलियाँ' और दूसरी 'स्वाँग'। ये कहानियाँ ऐसी हैं, जिनके बारे में शायद कोई भी लेखक यह सोचेगा कि यह कहानियाँ तो उसकी होनी चाहिए थीं। ये कहानियाँ तो उसे रचनी चाहिए थीं। मैंने यह बात किसी सम्मान समारोह में मंच से भी कही थी, जहाँ मनीषा कुलश्रेष्ठ को सम्मान प्राप्त हो रहा था। 'कठपुतलियाँ' कहानी मनीषा कुलश्रेष्ठ की प्रारम्भिक कहानियों में से एक है, मगर यह आज भी मनीषा कुलश्रेष्ठ की

कहानियों में सबसे अनूठी कहानी है। मेरे-जैसे लोग, जो नानी से कहानियाँ सुन-सुन कर बड़े हुए हैं, उनको इस प्रकार की कहानियाँ अधिक पसन्द आती हैं, जिनमें कथारस भरपूर होता है और जिनमें स्पष्ट रूप से नायक या खलनायक जैसा विभाजन नहीं होता। जिनमें आम इंसान पाये जाते हैं, जो अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं, वैसे ही जैसे हम सब हैं। कहानी केवल रामकिसन, सुगना और जोगी की नहीं है, यह कहानी ऐसे बहुत से पात्रों की है, जो हमारे ही समय में विद्यमान हैं। इस कहानी को पढ़ा जाना चाहिए इसके पात्रों के गठन के लिए, विशेषकर रामकिसन और सुगना की निर्मिति के लिए। जिस मिट्टी से लेखक ने इन दोनों पात्रों को बनाया है, वह मिट्टी किसी गाँव के पास बने पोखर के किनारे की मिट्टी है, जहाँ से होकर जाने कितने पैर गुजरते रहे हैं अपना अंश छोड़ते हुए। शायद इसीलिए इस मिट्टी में उन सब की गन्ध बसी हुई है, जो हमें रामकिसन और सुगना की देह से आती महसूस होती है। कहानी में रामकिसन का बार-बार सुगना की अग्निपरीक्षा हेतु इनकार करना, पाठक के अन्दर तक उतरता चला जाता है, और सुगना का दृढ़ बना रहना भी कि यह तो रामकिसन का ही बच्चा है, जो पेट में पल रहा है। कहानी का अन्त इतना घटनाप्रधान है कि पाठक को साँस लेने के लिए भी रुकना पड़ता है। कहानी में कथारस की चिकनाहट इतनी अधिक है कि सारी घटनाएँ जैसे मुट्ठी में से रेशम की तरह बिना घर्षण किये गुजरती चली जाती हैं, फिसलती चली जाती हैं। कहानी के अन्त में बंसी जब कब्रों पर उगने वाले ग्वारपाठे का रस और रेत की छिपकली का तेल लेकर आता है, तो यह कथारस अपने चरम पर पहुँच जाता है; यही वह बिन्दु है, जो इस कहानी को कालजयी बना देता है। बात वही है कि किसी कहानी को एक बार पढ़ लेने के बाद फिर-फिर क्यों पढ़ा जाए? उसके लिए कुछ ऐसा होना चाहिए कि अन्दर से इच्छा जागे उसे फिर से पढ़ने के लिए। इस कहानी में यह तत्त्व इसके अन्त में माँ को घर वापस लाने के लिए बच्चों तथा पत्नी को वापस लाने के लिए पति का संघर्ष है। यह कहानी असल में उसी की कहानी है। इस कहानी के लिए मैं भी मनीषा कुलश्रेष्ठ से वही कह सकता हूँ जो नौशाद ने मदन मोहन से कहा था।

दूसरी कहानी 'स्वाँग'; यह कहानी भी काल का अतिक्रमण कर जीवित रहने की सम्भावनाओं से भरी हुई कहानी है। यह समय की तेज गति से उफन कर बहती हुई प्लावित नदी के किनारे खड़े उन वृक्षों की कहानी है, जो तेज गति के कारण हो रहे मिट्टी के कटाव के साथ कट रहे अपने आधार को चुपचाप खड़े होकर देखने के लिए श्रापित हैं। जो देख रहे हैं कि मिट्टी धीरे-धीरे पानी की तेज धार के साथ कट-कट कर बह रही है और उनके खड़े रहने की सम्भावना धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। किसी भी समय एक तेज धार मिट्टी के साथ-साथ उनके भी अस्तित्व को बहा ले जाएगी। समय की अचानक तेज हुई गति के कारण सबसे हतप्रभ हुई हैं कलाएँ। कलाएँ, जो शायद पिछले हजार-दो हजार सालों से पीढ़ी दर पीढ़ी जिन्दा थीं, जीवन-यापन का जरिया थीं, वह कलाएँ अचानक पिछले बीस-पचीस-तीस वर्षों में तेजी के साथ आए परिवर्तनों तथा तेज हुई जीवन गति के कारण स्तब्ध-सी खड़ी देख रही हैं उस हाशिये को, जहाँ पर वे पता नहीं कब, कैसे आ गयीं। यह कहानी भी ऐसी ही स्तब्धता की कहानी है। तेज होता समय कलाओं में से बस वही कुछ रख रहा है, जो उसकी गति के अनुकूल है। दृश्य और श्रव्य माध्यमों में एकदम से आए विस्फोट के कारण बहुत कुछ पीछे छूटता जा रहा है। 'स्वाँग' भी ऐसे ही पीछे छूटने की कहानी है। कहानी वैसे तो प्रत्यक्ष रूप से गफ्फार खान बहुरूपिये की कहानी है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से यह बहुत से लोक-कलाकारों की कहानी है। बहुत-सी लोक कलाओं और कलाकारों के छीजने की करुण कथा। यह कहानी शरीर की रोमवली को स्पन्दित नहीं करती, यह तो आत्मा के अन्दर एक ठंडी सिहरन पैदा करती है। गफ्फार की हताशा और बचे रहने के लिए किये जा रहे उसके प्रयास, पाठक को एक गहरी उदासी से भर देते हैं। उदासी, जो शुष्क बर्फ की तरह ठंडी तो है, किन्तु उसमें नमी का सर्वथा अभाव है। कहानी में गफ्फार खान उर्फ गफूरिया और उनकी पत्नी सकीना उर्फ बुढ़िया, यह दोनों पात्र जैसे किसी एक विशेष कालखंड में फ्रीज होकर रह गये पात्र हैं। इनके आस-पास की दुनिया इतनी तेज गति से गुजर रही है कि यह उस गति की तुलना में एकदम जड़ नजर आते हैं, जो ये वास्तव में हैं नहीं। कहानी में कई छोटे-छोटे पूर्व दृश्य हैं, जो कहानी के साथ गुँथ कर उसको सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। जैसे एक कहानी है गफूरिया के उस्ताद की कहानी, जो पाठक को अचानक आकर विचलित कर जाती है और गफूरिया की भविष्य के प्रति संवेदना से भर जाती है। या सकीना द्वारा गफूरिया के पेशे को लेकर की जा रही बहसें हों, जिनमें उस पेशे के कारण तात्कालिक रूप से पैदा हो रही शर्मिन्दगी जेरे-बहस है। कहानी के अन्त में गफूरिया द्वारा कहा गया एक वाक्य पाठक के अन्दर की उदासी को घनीभूत कर एक गहरे दुख में परिवर्तित कर देता है। सघन और गहन दुख में, जिसकी तलछट में गफ्फार खान जैसे बहुत से पात्र/कलाकार जलीय वनस्पतियों की तरह कातर होकर काँपते दिखाई देते हैं। यह कहानी पाठक को बहुत दिनों तक बेचैन रखने वाली कहानी है। कहानी को पढ़ने के बाद जब भी पाठक ऐसे किसी लोक कलाकार को देखेगा, तो शायद उसके देखने का नजरिया बहुत बदला हुआ होगा, अगर

इतिहास में ही नहीं, साहित्य के इतिहास भी औरत को उसके अनेक तरह के अवदानों से वंचित रखा गया है। निश्चय ही मनीषा की कलम की यह धारदार करवट हिन्दी साहित्य को सम्पन्न करने वाली है।

चित्रा मुद्गल

उसके अन्दर संवेदना की नमी बाकी है, बरकरार है। यह कहानी अपने सरोकार के साथ एकाकार होकर उस पीड़ा को पाठक तक पहुँचाने में सफल होती है, जिसके लिए यह कहानी लिखी गयी, या कोई भी कहानी लिखी जाती है।

कहानियों की विषय-वस्तु के केन्द्र में बरसों तक प्रेम ही बना रहा। प्रेम कहानियों की स्वीकार्यता पाठकों के बीच हमेशा रही है। हिन्दी फिल्मों में तो आज भी हर फिल्म में कहीं न कहीं प्रेम की उपस्थिति बहुत जरूरी है, उसके बिना दर्शक को लगता ही नहीं है कि फिल्म देखी गयी है। कथा-जगत् में भी प्रेम हमेशा से उपस्थित रहा है, बस इतना हुआ है कि प्रेम का स्वरूप बदल गया है। हालाँकि यह प्रश्न भी अपनी जगह पर यथावत् खड़ा है कि क्या प्रेम का भी स्वरूप बदल सकता है, और जो यह बदला हुआ रूप है, क्या इसे भी प्रेम ही कहा जाएगा? मगर फिर भी प्रेम कहानियाँ लिखी जाती रही हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की एक कहानी है 'एक ढोला, दूजी मरवण. ... तीजो कसूमल रंग' यह कहानी प्रेम के मूल स्वरूप की कहानी है, बस फर्क इतना है कि इसमें लेखक ने प्रस्तुत करने के अन्दाज में बदलाव ला दिया है, बजाय इसके कि प्रेम के स्वरूप में बदलाव लाया जाए। प्रेम कहानियों को लिखने में जो सबसे खास बात होती है कि इनको रचते समय बहुत नाजुकी, बहुत नफासत की आवश्यकता होती है... प्रेम का रसभंग बहुत जल्द होता है, जरा-सी चूक हुई कि कहानी समाप्त। इस कहानी में लेखक ने बहुत ध्यानपूर्वक प्रेम को रचा है। रचा है केवल ऑब्जर्वेशन से। कहानी में दो प्रेम हैं, और दोनों ही अधूरे छूटने की सम्भावित नियति की गुफा के मुहाने पर खड़े हैं। एक युवती जो शायद विधवा है, शायद इसलिए कि कहानी में भी यह 'शायद' उपस्थित है और एक जवान होता लड़का, जो कंडक्टर है। और एक प्रेम... जो पता नहीं है भी अथवा नहीं है। इस कहानी में सबसे सुन्दर यही प्रेम है, जिसकी उपस्थिति पूरी तरह से सन्दिग्ध है, अप्रमाणित है... जो नहीं है उसको लेकर कहानी लिखना बहुत कठिन होता है, उस पर अगर वह प्रेम हो तो यह कठिनाई दोबाला हो जाती है। इस कहानी में शैलेश और फौजिया के बीच जो प्रेम है... उसके पार एक और प्रेम है कसूमल रंग का प्रेम... यह प्रेम कंडक्टर और उस 'शायद विधवा' युवती के बीच का प्रेम है। ''प्रेम अगर व्यक्त हो जाए तो फिर वह प्रेम नहीं बचता'', लेखक ने इस वाक्य को ध्येय बना कर बहुत तन्मयता के साथ इस प्रेम को रचा है, कहीं भी, जरा भी व्यक्त नहीं होने दिया है; कि कहीं इससे प्रेम समाप्त ही न हो जाए। प्रेम से बड़ी होती है प्रेम की सम्भावना... क्योंकि सम्भावना ही शेष रखेगी प्रेम को। यह कहानी उसी सम्भावना की कहानी है। इसे पढ़ते समय पाठक की कल्पना में बस के अन्दर बोनट पर बैठे कंडक्टर लड़के के बाहरी और उसके मन के अन्दरूनी दृश्य बनते हैं। उस लड़के के मन में क्या चल रहा है, यह पाठक तक पूरा-पूरा सम्प्रेषित होता है, जबकि कहीं कोई संवाद या अतिरिक्त चेष्टा नहीं कहानी में लड़के और उस 'शायद विधवा' के बीच। कहानी चिरन्तन प्रेम की कहानी है, सबकुछ वही है, किन्तु जो नया है वह है कहानी को रचने का तरीका, यह कहानी इसी कारण अनोखी प्रेम कथा बन जाती है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की ही कहानी 'ऐडोनिस का रक्त और लिली के फूल' में भी इसी प्रकार का अव्यक्त तत्त्व है, मगर वहाँ प्रेम में देह है। देह होने के बाद भी इस कहानी में भी लेफ्टिनेंट और अम्बिका के बीच कुछ बहुत जटिल पहेली-सा गुजरता है, जो सरलता से पाठक के पास पहुँच जाता है।

'कुरजाँ' कहानी पढ़ते हुए महसूस होता है कि मनीषा कुलश्रेष्ठ कहानी रचने से ज्यादा मेहनत पात्रों को रचने में करती हैं। शायद वे उन कथाकारों में से हैं, जिनको कहानी से ज्यादा आनन्द पात्रों को आकार देने में आता है। वे मानती हैं कि कहानी से पात्र नहीं बनते, पात्रों से कहानी बनती है, इसीलिए उनकी कहानियों के पात्र पाठक की स्मृति में बने रहते हैं। भले ही गफ्फार खान हो, सुगना हो, अम्बिका हो या वह बस

कंडक्टर हो। 'ये तीनों तिरछे चलें शायर, शेर, सूपत...', की तरह उनकी कहानी के पात्र भी तिरछे ही चलते हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की ही एक कहानी है– 'बिगड़ैल बच्चे'। उस कहानी के पात्र तो घोषित रूप से बिगड़ैल हैं लेकिन मनीषा कुलश्रेष्ठ की अधिकांश कहानियों के पात्र अघोषित रूप से बिगड़ैल ही होते हैं। मगर यह जो बिगड़ना है, यह रचनात्मक बिगड़ना है, यह ध्वंसात्मक नहीं है। उसी प्रकार जिस प्रकार 'बिगड़ैल बच्चे' कहानी के बच्चे हैं, बाहर से नकारात्मक होने का भ्रम पैदा कर रहे किन्तु अन्दर से सकारात्मक। यह जो इल्यूशन है या हेल्यूसिनेशन जो मनीषा कुलश्रेष्ठ के पात्र रचते हैं, यह जो माया है, यही इन पात्रों को विशिष्ट बना देता है। 'कुरजाँ' कहानी को पढ़ते हुए मनीषा कुलश्रेष्ठ की रेंज भी पता चलती है, रेंज विषयों की, रेंज कल्पना की उड़ान की। यह कहानी 'डायन' या 'डाकण' की कहानी है। इस विषय पर बहुत कहानियाँ लिखी गयी हैं। गाँव की किसी स्त्री को डायन घोषित कर देना, यह ऐसा विषय है, जो बार-बार कहानीकारों को आकर्षित करता रहा है। 'कुरजाँ' कहानी भी उसी डायन की कहानी है, जो गाँव के बाहर अपने बेटे जुगनू के साथ रहती है। कहानी को विशिष्ट बनाता है उसका केन्द्रीय पात्र कुरजाँ। डायन घोषित कर दी गयी यह स्त्री यथास्थिति को लेकर लगातार प्रतिरोध उत्पन्न करती है और उसका उपहास भी उड़ाती है। कहानी को पढ़ते समय पाठक को कुरजाँ अपने आस-पास साँस लेती हुई महसूस होती है, उसकी उपस्थिति कहानी से निकल कर पाठक की कल्पना से होते हुए भौतिक रूप से भी साकार होने लगती है। इस कहानी में कुरजाँ केवल पात्र नहीं रह जाती, वह प्रश्न बन जाती है और कहानी के समाप्त होने के बाद भी हवाओं में उपस्थित रहती है। यह कुरजाँ उसी प्रकार हठीली है जिस प्रकार मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'रंग-रूप-रस-गंध' का बेनु गुसाँई है, कहानी में जब भी उपस्थित होता है, तो कहानी को इस सिरे से उस सिरे तक आलोड़ित कर जाता है। बेनु गुसाँई भी वही बिगड़ैल बच्चा है, जो लेखक की कहानियों में जाने कब काया-प्रवेश कर जाता है। बेनु गुसाँई के अन्दर वही जिद है जिसे दुनियादारी की भाषा में पागल होना कहा जाता है लेकिन यह पागलपन दुनिया को रहने लायक बनाये रखने के लिए बहुत जरूरी होता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कहानीकार किसी कहानी को रचते समय किसी ऐसी दुनिया में शिफ्ट होने के खतरे से भर जाता है, जिस दुनिया के अन्तिम सिरे पर विक्षिप्तता नाम की कोठरी है। कहानीकार जब किसी कहानी को रचता है, तब वह कहानी के पात्रों में परकाया प्रवेश कर, पात्र की नजरों से देखता है तथा भोगता है। पात्र और लेखक जब अद्वैत हो जाते हैं, तब कहानी जन्म लेती है। इस परकाया प्रवेश के बड़े खतरे हैं, क्योंकि यह अभिमन्यु के चक्रव्यूह प्रवेश की तरह की स्थिति है, जिसमें प्रवेश करना तो सम्भव है, मगर बाहर निकलना बहुत मुश्किल खेल है। और यदि बाहर नहीं निकल पाओ तो वही गति होती है, जो अभिमन्यु की होती है। द्वैत हमेशा द्वैत बने रहने से विद्रोह करता है और अद्वैत होना चाहता है। इसी से जन्म होता है द्विव्यक्तित्व का। पात्र का नैराश्य लेखक को महसूस होता है, बेचैन करता है। उस पर यदि 'एक थी लीलण' जैसी कहानी लिखना हो, तो यह परकाया प्रवेश बहुत कष्टकारी होता है। कहानी इतनी पीड़ा, इतने दुख, इतने त्रास की कहानी है कि उसमें कहीं साँस लेने की भी गुंजाइश नहीं है पात्र को। और पात्र को साँस लेने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि वह कहानी लिखते समय देह है भी नहीं, वह काया की माया से मुक्त हो चुका है। लीलण में परकाया प्रवेश कर उसकी कहानी लिखना आसान नहीं है। लीलण जिसकी देह अब मर्चुरी में है, उसके माता-पिता भी उस देह को लीलण मानने से इंकार कर रहे हैं। यह जो नकार है, अस्वीकार्यता है, यह ही त्रास है। लीलण की कहानी कहने के लिए लेखक ने देह से मुक्त हुई आत्मा की आँखों से सबकुछ दिखाने की कोशिश की है। लीलण मर चुकी है, मगर उसके बाद भी मर रही है, मर रही है क्योंकि उसके माँ-बाप उसको पहचानने से इंकार कर रहे हैं। वह मर रही है क्योंकि वनराज गायब हो चुका है, उसका गबरू अब कहीं नहीं दिखाई दे रहा है। हालाँकि कहानी में एक तकनीकी भूल है और वह ये कि लावारिस शवों को मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थियों के लिए नहीं सौंपा जाता, उनका बाकायदा अन्तिम संस्कार किया जाता है। मेडिकल कॉलेज में वहीं शव होते हैं, जो देहदान से प्राप्त होते हैं। मगर यह तकनीकी भूल भी कहानी को बड़ा होने से नहीं रोक पाती है। क्योंकि कहानी तो लीलण के सन्त्रास की कहानी है, उसके शव के साथ क्या हुआ, इसकी कहानी नहीं है। कहानी तो लीलण के शव बनाये जाने की कहानी है। कहानी तो लीलण की आत्मा के भी शव बन जाने की कहानी है। यह बहुत डिस्टर्ब करने वाली कहानी है, और आज के समय में लोगों को डिस्टर्ब रखना बहुत जरूरी है। शायद डिस्टर्ब करने से ही वे जिन्दा बने रहें। यह असल में थिर जल में फेंके गये कंकड़ का डिस्टर्बेंस है, जो कुछ देर के लिए ही सही पर जल को जीवित कर देता है। जब हमारे आस-पास का सबकुछ थिर हो रहा हो, तब लीलण की कहानी के रूप में कंकड़ उस थिरता को तोड़ने के लिए फेंका जाना बहुत जरूरी हो जाता है।

'मौसमों के मकान सूने हैं' एक छोटी-सी कहानी है, जो लगभग एक ही पात्र के साथ चलती है। इस कहानी की चर्चा इसलिए कि यह कहानी नैराश्य से पलायन के बीच के वक्फे की कहानी है। वह वक्फा जिसमें तय होता है कि शेष या

आईसेक्ट पब्लिकेशन

द्वारा प्रकाशित
कविता की नई पुस्तकें

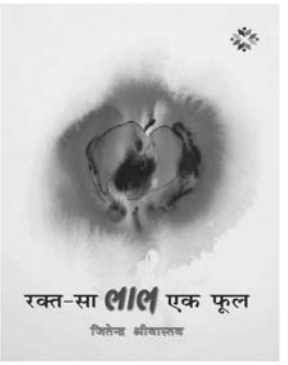

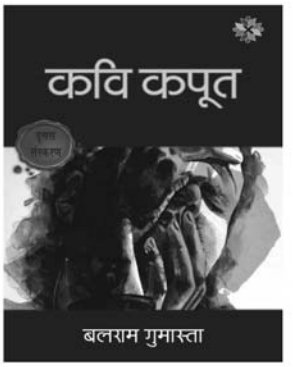

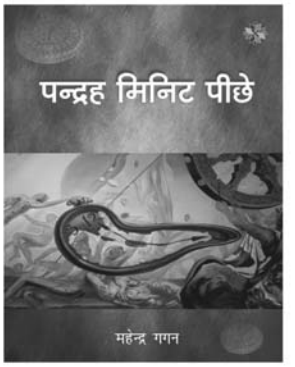

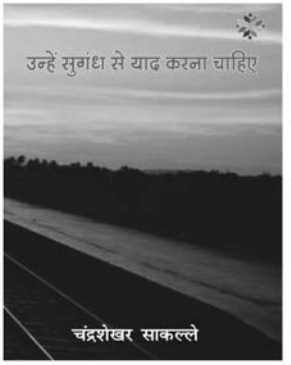

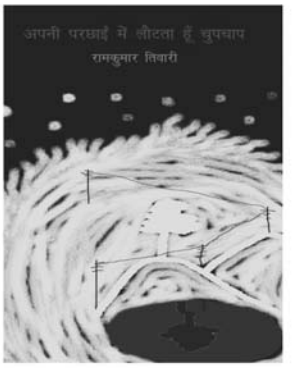

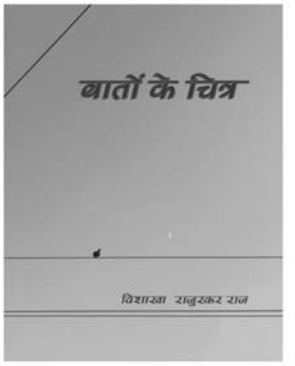

आईसेक्ट पब्लिकेशन

ज्ञान-विज्ञान, कौशल विकास तथा कला-साहित्य पर हिन्दी, अँग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में पुस्तकों और पत्रिकाओं का राष्ट्रीय प्रकाशन

ई-7/22, एस.बी.आई., अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016
मो. 8818883165 फोन : 0755-4851056
ई-मेल: aisectpublications@aisect.org, mahip@aisect.org

स्कोप कैम्पस, एनएच-12, होशंगाबाद रोड, भोपाल-462047
फोन : + 91-755-2432801, 2432830

पुस्तकें अमेजन व आईसेक्ट ऑनलाइन पोर्टल पर भी उपलब्ध

अशेष... अब इसके बाद क्या होना है। उस छोटे से वक्फे को ही इस कहानी में आधार बनाया गया है। सबकुछ उस वक्फे में ही घटित होता है। कहानी फरजाना की नहीं है, क्योंकि यह कहानी किसी एक पात्र की हो ही नहीं सकती, यह कहानी तो उस मानसिक स्थिति की कहानी है, जिसमें फरजाना उस विशेष कालखंड में है, जब कहानी रची जा रही है। असल में इस कहानी में पात्र से बढ़ कर समय है, समय जिसमें वह कहानी उपस्थित है और जो कहानी में उपस्थित है। इस समय के इस तरफ और उस तरफ दो स्थितियाँ हैं, यह कहानी दोनों की चर्चा करती है। फरजाना अन्त में एक स्थिति को अपने लिए चुन कर एक रास्ता-सा बनाती हुई कहानी के फ्रेम से बाहर हो जाती है। मगर, वह रास्ता फरजाना के चले जाने के बाद भी बचा रहता है। उस रास्ते का बचा रहना ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उसी रास्ते की कहानी है। कहानी लिखते समय कल्पना और यथार्थ के बीच सन्तुलन साध रहे लेखक के सामने एक और बड़ा प्रश्न रहता है, वह प्रश्न होता है लेखक के सरोकार या उसकी जिम्मेदारी का प्रश्न। कल्पना और यथार्थ का मेल करना ही लेखक होना नहीं है, इनके सम्मिश्रण के समय लेखक को याद रहे कि वह लेखक है, जो कुछ वह रचेगा उसे उदाहरण की तरह प्रस्तुत किया जाएगा, हो सकता है उससे प्रेरणा भी ली जाए। यह प्रश्न ही सबसे बड़ा होता है। इस कहानी में कल्पना और यथार्थ के साथ लेखक की जिम्मेदारी भी दिखाई देती है। यह जिम्मेदारी 'प्रेत कामना' कहानी में भी दिखाई देती है, जो एक बिलकुल अलग ही विषय पर लिखी गयी कहानी है। इस कहानी में भी कामना की कहानी लिखते समय लेखक अधिक चर्चा करता है उस एकाकीपन की, जो कामना के बरअक्स दूसरी तरफ है, और जो असल में कहानी है। यहाँ महेश्वर पन्त और अणिमा के बीच जो कुछ है वह कामना नहीं है, वह अकेलापन है, एक सूनापन है, जहाँ सन्नाटों के अलावा और कुछ नहीं है। इन कहानियों को इसी तरह से पढ़ा जाना चाहिए और इन्हीं कारणों से इनको पहचाना जाना चाहिए।

इन दिनों ऑर्डर पर कहानियाँ तैयार किए जाने का समय चल रहा है। लेखक भी धीरे-धीरे उत्पादनकर्ता में परिवर्तित होता जा रहा है। सम्पादक तय करता है कि वह इस विषय पर विशेषांक निकालेगा या संकलन का सम्पादन करेगा, और बस उस विषय पर लेखक कहानियाँ लिखने लगते हैं। कहानियाँ इसलिए नहीं लिखी जा रही हैं कि वे कहानियाँ अपने आपको लिखवाने के लिए लेखक को बाध्य कर रही हैं। कहानियाँ इसलिए नहीं लिखी जा रही हैं कि उस कहानी का विषय और उस कहानी के पात्र लेखक को लगतार कई दिनों, महीनों, सालों से बेचैन किए हुए हैं, और अब स्थिति यह हो गयी है कि लेखक के लिए कुछ और कर पाना भी दूभर हो गया है। अब तो 'डिमांड एण्ड सप्लाय' का समय साहित्य में भी आ चुका है। सम्पादक वर्क ऑर्डर भेजता है, वर्क ऑर्डर प्राप्त होने के बाद लेखक काम शुरू करता है और काम पूरा होते ही डिलेवरी चालान के साथ अपनी कहानी या अन्य किसी विधा की रचना भेज देता है। सबकुछ वैसा ही हो रहा है, जैसा कि व्यवसाय में हो गया है। ऐसे समय में मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियाँ आश्वस्त करती हैं कि जब सबकुछ समाप्त होने की सम्भावनाएँ व्यक्त की जा रही हैं, तब भी कहीं कुछ न कुछ ऐसा है, जो समाप्त किए जाने के प्रति विद्रोह ठान कर बैठा है। कुछ लेखक अभी भी ऐसे हैं जो 'डिमांड एण्ड सप्लाय' के व्यावसायिक ढाँचे के अनुरूप नहीं लिख रहे बल्कि तब लिख रहे हैं जब लिखना जरूरी हो जाता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ उसी पीढ़ी की कथाकार हैं, जिस पीढ़ी के लेखन को सामने आए हुए अब लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं लेकिन बीस वर्ष के अन्तराल को पाट कर भी मनीषा कुलश्रेष्ठ के लेखन में निरन्तरता और गतिशीलता बनी हुई है। इस बीच बहुत कहानियाँ इस लेखक ने रची हैं, बहुत-सी यादगार कहानियाँ। लेकिन, मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों से ज्यादा याद रहते हैं, उन कहानियों में बनने वाले दृश्य, उन कहानियों में आने वाले पात्र। कई बार तो ऐसा होता है कि मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी का नाम याद नहीं आता, मगर उस कहानी के पात्र का नाम बिलकुल याद आ जाता है। यह लेखक की बड़ी सफलता होती है कि उसकी कहानी के पात्र उसकी कहानी से भी बड़े हो जाएँ। कहानियाँ मर जाती हैं, लेकिन पात्र सदियों तक जिन्दा रहते हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियाँ वंडरलैंड में विचरण करती हुई 'एलिस' की कहानियाँ तो हैं, मगर इन कहानियों का वंडरलैंड स्वप्न नगरी नहीं है, वह यथार्थ के कठोर धरातल पर खड़ा हुआ शहर है। असल में यह कहानियाँ एलिस के वंडरलैंड तथा यथार्थ के जादुई सम्मिश्रण की कहानियाँ हैं। इसीलिए इन कहानियों के पात्र वंडरलैंड में विचरते हुए भी कुरजाँ, सुगना तथा गफ्फार बने रहते हैं, वे एलिस नहीं बनते। कहानी वही होती है, जो समाप्त होने के बाद पाठक के अन्दर किसी द्वन्द्व की शुरुआत कर दे, जो पाठक को समाप्त होने के बाद भी नहीं छोड़े, देर तक, दूर तक उसके साथ बनी रहे। मनीषा कुलश्रेष्ठ के पास इस तरह की बहुत कहानियाँ हैं, कहानियाँ, जो देर तक स्मृति के गलियारे में चन्दन धूप के धुएँ-समान मौजूद रहेंगी, बीत जाने के बाद भी।

पी.सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6,
सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने,
सीहोर-466001 (म.प्र.)
मो. 09977855399

❑ बहरीन

फौजिया रशीद की दो कहानियाँ

जवाबतलबी

अनुवाद : कुणाल सिंह

अरसा पहले, उस रात की वह घड़ी...

धूल से सने चेहरों का एक भूतिया समन्दर तुम्हारी ओर ठाठे मार रहा था। तुम्हारी अम्मी का चेहरा दरवाजे के पीछे था। उनकी बुदबुदाते ओठ तुम्हारी आपा की रूह को पुकार रहे थे, तुम्हारी उस बहन की रूह को, जिसे उस रात के बाद तुमने कभी नहीं देखा। तुम्हें याद है, आसपास की तमाम आँखें चराग-सी रोशन थीं और वह सो रही थी। रात के उस अँधेरे में, झुर्रियों से भरी एक बाँह उसके उनींदेपन का फायदा उठा लेना चाहती थी। वह मानो अपने बिस्तरे में नींद से पिघल रही थी। तुम्हारे और उसके छोटे चेहरे के दरम्यान एक ख्वाब का फासला था। या बीच में फिर जागने की वीरान

दूरियाँ पसरी थीं। इस दूरी में कोई जंगल था, जिसमें कई खूँखार जानवरों की रिहाइश थी।

वह डर से चीख पड़ी थी जब उन्होंने उसे उठाया था। उसके उनींदापन ने उनकी बाँहों में उसे भहर जाने दिया था।

बन्द दरवाजे के उस पार से तुम्हें किसी मर्द की आवाज सुनाई पड़ती है, मसलन तुम्हारे अब्बा की आवाज, नाउम्मीदी और गुस्से से भरी आवाज, जवाबतलबी में जरा ऊँची उठकर फुँफकारती, ''बताओ वह कौन है?''

उसकी घिग्घी-सी बँधी थी और उसने कोई जवाब नहीं दिया था।

फिर एक दूसरी आवाज ने उस अँधेरी खामोशी को तोड़ा था। तुम किसी तरह से उसे वहाँ बन्द दरवाजे की चँगुल से बाहर निकाल ले आना चाहती थी।

काँपती आवाज में तुम्हारी आपा ने किसी का नाम लिया था। उस नाम को सुनकर तुम्हारे कान खड़े हो गये थे।

''मैंने कुछ नहीं किया। मैं तो उसके साथ खेल रही थी।'' उसने कमजोर आवाज में कहा।

''वह एक लड़का है और तुम एक लड़की हो।''

बारिश की उस रात जब सब दस्तरख्वान पर इकट्ठे हुए, किसी की हिम्मत न हुई कि पूछे आपा कहाँ गयी। हालाँकि बाद में तुमने घर के पिछवाड़े आँगन में औरतों की दबी-घुटी सिसकियों और फुसफुसाहटों को सुना किया, बेचारी अभी उसे कुछ पता ही कहाँ था... छोटी थी... लड़के ने उसे धोखा दिया... खानदान की इज्जत...

तुम बस इतना समझ पायी कि आपा अब कभी नहीं लौटेंगी। वह हमेशा के लिए कहीं चली गयीं।

तुम जनानखाने के हमामों में झाँककर देखती हो। एक-दूसरे से लगी-बझी देहों से भाप निकलते हैं। यह कोई ख्वाब है या ख्वाब जैसा कुछ। वह क्या है जो इन औरतों को यहाँ खींच लाया है? तुम आँखें फाड़कर देखती हो, लेकिन वह कहीं नहीं दिखतीं। हालाँकि बीती रात को सोते जाते वक्त तुमने किसी की फुसफुसाहट सुनी थी। तुम्हें औरतों के बारे में बहुत कुछ बताया गया है। बावजूद इसके जिन लोगों ने तुम्हारी आपा की नींद को अगवा कर लिया था, उनकी टेढ़ी झुर्रियाँ तुम्हारा पीछा नहीं छोड़तीं।

अभी तुम्हारी निगाह में सिवाय गर्म भाप में चुड़ैलों की तरह तैरती नंगी जनाना देहों के सिवा कुछ नहीं। अपनी-अपनी तमन्नाओं के नशे में झूमती औरतें। उनमें से एक जनाना की गर्म देह तुम्हारी निगाह में किरकिरी की तरह चुभती है। कभी तुम उसके घर गयी थी और उसने तुम्हारे साथ जो हरकत की थी, तुम अकबकाकर वहाँ से भाग निकली थी।

पड़ोस के घरों में, मर्दानी सरहद के इस ओर जहाँ आपस में किसी प्रकार की पर्देदारी नहीं होती, तुमने इस तरह की न जाने कितनी चीजें होते देखी हैं।

और अब।

तुम्हें उस लड़की की याद आती है जो तुमसे कुछ साल बड़ी थी। कभी-कभी तुम मलाल से भरकर रो पड़ती हो और कभी तुम्हारे मन में आता है कि उन हाथों को रोक दो, उनकी रगों को काटकर फेंक दो जिन्होंने उसे ऐसी जगह पहुँचा दिया जहाँ से उसकी कभी वापसी न हो सकी।

आखिर उन्होंने उसे उस रात गायब क्यों कर दिया? उसकी खिलखिल-चखचख से, उसके साथ पेड़ों के नीचे खेलने-कूदने से तुम्हें हमेशा के लिए महरूम क्यों कर दिया गया?

❑

फना

अनुवाद : कुणाल सिंह

उस शख्स के सूजे हुए चेहरे ने उसे डरा दिया। मर्दानी निगाह के सूराखों से जो बयाँ हो रहा था, उसे नजरअन्दाज करते हुए वह मानों यों थी कि हवा में उड़ता पतझड़ का कोई पत्ता हो।

''वह मुझे मारेगा। वह भी और मर्दों की मानिन्द है।''

जब उसने सुना कि वह उसे नाम लेकर पुकार रहा है, बिल्ली के पाँवों चलकर उसके पास पहुँची। वह उसे अब पहचान गयी थी। आखिरी बार उसने जो पैसे दिये थे, उससे उसने अपने लिए मीठी गोलियाँ खरीदी थी।

''और पास आओ।''

उसने अपना हाथ बढ़ाया। जैसे ही उसकी उँगलियाँ उसकी छुअन में आयीं, उसकी हथेली पर सिक्का सरक आया। मारे खुशी के वह उछल पड़ी। उस सिक्के का उसे क्या करना था, उसे भली-भाँति पता था। वह अपनी अम्मी को नहीं बतायेगी। उस सिक्के से वह जो भी खरीदेगी, सबसे छुपा के रखेगी ताकि किसी को पता न चले। घर के पास पहुँचते ही उसके कदम और तेज हो गये। उसी अनुपात में उसकी भोली आँखों में पसोपेश और खौफ समा गया।

सदर दरवाजे के पास एक अधेड़ औरत ने उसे धर दबोचकर एक तमाचा रसीद कर दिया। वह उस औरत की गिरफ्त में कुछ उसी प्रकार खड़ी रही मानों किसी जंगली कुत्ते की पकड़ में कोई पालतू डरी हुई बिल्ली हो। फिर यकायक उसकी आँखों से आँसुओं के परनाले बहने लगे।

''बदजात लड़की!''

उसकी अम्मी ने पास खड़े उसके अब्बा को चीरती नजरों से देखते हुए उसके बारे में कहा।

''देखना एक दिन ये पूरे खानदान की नाक कटा देगी।''

लड़की ने अपना सिर झुका लिया। उसी दम किसी अनजाने डर ने उसे अपनी गिरफ्त में ले लिया।

उसने अपनी गुड़िया को थाम लिया, जो उसका एकमात्र खिलौना थी। उसे याद नहीं कि किसने उसे यह गुड़िया दी थी। दरवाजे और उस गन्दे फर्नीचर के बीच जो थोड़ी-सी जगह थी, वह वहीं गुड़ीमुड़ी होकर पड़ रही। लोग क्या कहते हैं, इस जानिब वह अमूमन कम ही कान दिया करती थी। लेकिन इस दफा उसने कुछ ऐसा सुना था, जो इससे पेश्तर उसके सुनने में नहीं आया।

वे मेरी बाबत बातें कर रहे हैं– उसने सोचा।

जब अम्मी चिल्ला-चिल्लाकर अब्बा से मुखातिब थीं, उसने उनके हाथों की भंगिमाओं पर गौर किया। अब्बा चुपचाप किसी मरे हुए खजूर के पेड़ की मानिन्द खड़े थे।

''उसकी छातियाँ भर आयी हैं। क्या तुम्हारे दीदे फूट गये हैं? सुनो, हमारे पास और कोई रास्ता नहीं। मौका हाथ से निकल जाएगा तो फिर हाथ मलते रह जाओगे।''

उसके अब्बा ने कोई जवाब नहीं दिया।

''तुम पत्थर की नाईं चुप क्यों हो? किस बात की फिकर है? तुम्हारी जेब से एक धेला न खर्च होगा। वह आदमी सारा बन्दोबस्त अपने सिर ले रहा है।''

अपनी गुड़िया को छाती में दबोचते हुए उसे हूक-सी उठी। यह गुड़िया कुछ बोलती क्यों नहीं? क्या अम्मी का डर इस अबोध गुड़िया को भी है? अचानक आँधी के किसी झोंके की तरह वह उठी और बिना पीछे की ओर देखे सदर दरवाजे की चौखट को पार करती हुई दौड़ गयी।

''अरी बदजात, जाती कहाँ है? इधर आ...''

चेहरे पर अचरज को पनाह देती वह उसे देख रही थी जब उसने एक और सिक्के को दिखाते हुए उसे पुकारा। सिक्का उसकी उँगलियों में दबा था।

''मेरे पास आओ। डरो मत।''

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

कोरोना काल

कोरोना काल की रचनाशीलता

मूल्य 250 रु.

पुस्तक में 'कोरोना काल' की घोषणा फिर जनता कर्फ्यू से लेकर लॉकडाऊन तथा उसके हल के लिए व्यवस्था द्वारा तय किये गये नियमों का विश्लेषण है, साथ ही कोरोना की महामारी के समाज जीवन-समाज स्वरूप व देश व दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं पर होने जाने वाले संभावित प्रभावों का तार्किक अध्ययन व प्रस्तुति करने का प्रयास है। दरअसल कोरोना जैसी महामारी का एक बड़ा कारण महानगरीय व औद्योगिक सभ्यता भी है। विश्व स्तर पर वैक्सीन और विचार के स्तर पर गाँधी ही इस महामारी से बचने के कारगर उपाय नज़र आते हैं। इसकी विशेष चर्चा पुस्तक के आलेखों में है। साथ ही 2020 के वर्ष में देश व दुनिया में घटी महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर भी दृष्टिपात किया गया है, यथा चीन, गलवान घाटी, अमेरिका में अश्वेत की हत्या और उसके खिलाफ उभरते प्रतिरोध की चर्चा। पुस्तक के लेखन कार्य में श्री मदन जैन, का सहयोग महत्त्वपूर्ण है।

वह उन दीवारों के साये तले सिमटने लगी, जिनकी गिरफ्त से बचती हुई पिछली बार वह भाग निकली थी। रुलाई का एक गुबार था, जिसे अब तक वह जब्त किये हुए थी।

''मर्दों से बाखबर रहना। सारे जानवर होते हैं।''

उसने एक और इशारा किया। वह उसे चुपचाप देखते हुए सतर्क हो रही थी कि किसी भी घड़ी उसे वहाँ से उठकर भागना पड़ सकता है।

''मुझे अम्मी के पास जाना है।''

उसने उसके कन्धों को पकड़कर उठाया। उसके मर्दाने खुरदरे हाथ उसकी छातियों को छूने लगे। बरसात के बाद उठने वाले कुकुरमुत्तों की नाईं उसकी छातियाँ छोटी और बन्द-बन्द-सी थीं। उसने उसे अपनी बाँहों के घेरे में लपेटना चाहा। उसकी देह में एक अनजानी सिहरन-सी रेंग गयी। अन्ततः वह उसकी पकड़ से फिसल निकली। वह एक पल को अचम्भित-सा खड़ा रहा, फिर उसके पीछे दौड़ पड़ा।

''अरी बदजात, जाती कहाँ है!''

वह अपने कमरे में आ गयी। उसके अम्मी-अब्बा अब भी बातचीत में मशगूल थे। वह उन्हें सुनने लगी। फिर वह रोने लगी। रोते-रोते उसने शक्कर की मिठाई की माँग की। उसे गालियाँ बकती हुई उसकी अम्मी आईं और मुट्टी-भर शक्कर उसके मुँह में झोंक गयीं। वह खाते-खाते नींद में गुड़प हो गयी।

नींद में काली, अनजान परछाइयाँ उसे घेर रही थीं। उसकी गरदन दबा रही थीं। उनमें से एक परछाईं ने उसकी पेट पर लात जमा दी। वह दर्द से बिलबिला उठी। वह रोते हुए ख्वाबों की घेरेबन्दी से निकल उठी। डर से थरथराते हुए जब वह अम्मी-अब्बा के कमरे में दाखिल हुई, वे अब भी बहस में भिड़े हुए थे।

''इधर आ, चुड़ैल! क्या हुआ तुझे?''

अचानक उसने अपनी जाँघों पर कातर निगाह डाली। उसकी अम्मी हड़बड़ा गयीं। खून की एक मैली लकीर उसकी जाँघों से होते हुए टखनों तक खिंच गयी थी।

''इसे पकड़ो, कहीं यह गिर न जाए।''

अम्मी ने कहा तो उसके अब्बा दौड़े आये। जब उन्होंने उसे पकड़ा, वह और डर गयी।

''आज के बाद इस देहरी से बाहर एक कदम भी न रखना। समझ में आ रही है मेरी बात?''

और उन्होंने उसके गाल पर खींचकर एक तमाचा रसीद कर दिया।

वह कुछ समझी नहीं।

वह मर्दाना अक्स उसकी देह को तौल रहा था, उसके पास आया और उसके अंगों को छूने लगा।

वह चीख पड़ना चाहती थी।

यह कैसे मुमकिन है कि ऐन इस वक्त उसकी अम्मी उस शख्स के बाजू खड़ी हैं जब वह उसे छू रहा है और चुपचाप खड़ी हैं। उसकी मलामत करने की बजाय वह यह फर्मा रही हैं कि और पास आओ, बच्ची! ये तुम्हें प्यार करते हैं। ये तुम्हें मिठाइयाँ देंगे, पैसे देंगे। खेलने के लिए तुम्हारे पास अब वह बेजान गुड़िया ही नहीं, सचमुच का गुड्डा होगा।

उसकी सहमी हुई निगाह उस शख्स के चेहरे पर टिक गयी।

उसके रोने की आवाज उसके खुद के कानों तक पहुँची।

सड़क सुनसान थी। वह बेतहाशा भागी जा रही थी। मानों पतझड़ में कोई पत्ता हवा के साथ उड़ा जा रहा हो।

उसने कहा, ''मैं तुम्हें मिठाइयाँ दूँगा, पैसे दूँगा। अब से तुम्हें कोई नहीं मारेगा।''

अब वह उसे बखूबी पहचानने लगी है। आखिरी बार उसने उसे एक सिक्का दिया था और...

वह दूसरे मर्दों से जुदा न था। वह उसे मारेगा।

उसके भागते कदमों के तले सड़क फिसलती जा रही थी।

वह दूसरे मर्दों से जुदा नहीं। ऐसा खुद उसकी अम्मी भी तो कहा करती थीं।

उसे लगा कि कोई उसका पीछा कर रहा है, इसलिए उसने अपनी निगाह से एक बार समूचे सड़क को बुहारा। उसकी साँसें चुक रही थीं। उसके कदम रुकने का नाम नहीं ले रहे थे।

और उसका अक्स धीरे-धीरे फना होता जा रहा था। ❑

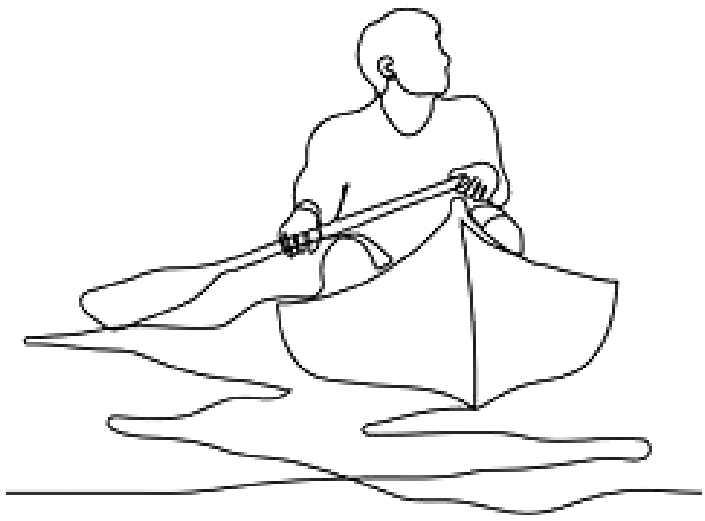

दक्षिणावर्त शंख

ना. पार्थसारथी

अनुवाद : धनंजय वर्मा

पूमलाइ सोच रहा था, वह आज शंख निकालने जाय या नहीं। सवाल उसे खासा परेशान कर रहा था। झोपड़ी के भीतर उसकी पत्नी गोमती प्रसव वेदना से कराह रही थी। रह-रह कर असह्य पीड़ा से उसकी चीख निकल पड़ती थी। दाई ने कह दिया था कि आज दोपहर के पहले जचकी हो जायेगी। ''तुम क्या सोच रहे हो पूमलाइ?'' उसकी बूढ़ी माँ ने उसे चिन्ता से उबारते हुए कहा, ''आज नहीं जाओगे तो क्या आसमान फट पड़ेगा? रुको, तुम्हें जाना ही है तो अपने बच्चे का मुँह देखकर जाओ।''

''नहीं, जाने को तो मेरा भी जी नहीं करता।'' बेटे ने विनम्रता से जवाब दिया, ''लेकिन मैं सोच रहा था... देखो न... शंख निकालने का धन्धा साल-भर तो चलता नहीं। सिर्फ दो-तीन महीनों

में तो कुछ पैसे मिल सकते हैं... इसीलिए मैं सोच रहा था...''

''धत्त! तुम और तुम्हारा पैसा।'' बुढ़िया ने आवाज तेज करते हुए कहा, ''आज के लिए भूल जाओ। औरत और बच्चे से ज्यादा कीमती क्या तुम्हारी आज की कमाई है?''

''ठीक है माँ, जैसी तुम्हारी मर्जी। मैं आज यहीं रहूँगा।'' पूमलाइ ने कहा, ''लेकिन कहीं ठेकेदार मालिक मुझे बुलवाने के लिए किसी को भेज न दे...?''

पूमलाइ झोपड़ी में ही रुका रहा। वह शंख निकालने नहीं गया।

सारे गोताखोर किनारे पर जमा हो गये थे। ठेकेदार परमशिवम पिल्लई लेकिन खुश नहीं था। उसे पूमलाइ का अभाव खटक रहा था। उसे लग रहा था कि उसका कुछ बहुमूल्य खो गया है। ऐसा लगने का कारण था। पूमलाइ एक कुशल गोताखोर था और उसके हाथ सधे हुए थे। समुद्र की तह से शंख जमा करने में उसकी तेजी का, उस इलाके में कोई सानी नहीं था। एक बार वह घुटन्ना पहनकर जब गोते पर गोता लगाता तो शाम होते-होते शंखों का पहाड़ लगा देता था, जबकि दस या बीस शंख जमा करने में ही दूसरे गोताखोरों की साँस फूल जाती थी। दूसरों की निगाहों में दिन की मजदूरी होती थी। पूलमाइ उनसे अलग था। ठेका सिर्फ चार महीनों के लिए था और परमशिवम पिल्लई ने उसे भारी दाँव लगाकर प्राप्त किया था, इसलिए वह इस छोटी-सी अवधि में ही सारा लाभ कमा लेना चाहता था, वर्ना उसे भारी नुकसान हो सकता था। खतरा खासा बड़ा था और परमशिवम पिल्लई उसके प्रति हमेशा चौकन्ना रहता था।

''क्यों, पूमलाई अभी तक क्यों नहीं आया?'' परमशिवम ने बिना किसी की ओर देखे सवाल किया।

''उसकी औरत सौरी में है। आज कभी भी उसे जचकी होने वाली है। वह आज नहीं आयेगा।'' भीड़ में से किसी ने रुक-रुक कर जवाब दिया।

''जाओ उसे तुरन्त बुलाकर लाओ। उससे कहो मैं उससे अभी मिलना चाहता हूँ।'' मालिक ने आदेश दिया। कुछ तो गोताखोर को, कुछ खुद को सम्बोधित करता हुआ-सा वह बोला, ''उससे कहना कि वह जल्दी घर वापस लौट सकता है। वह तभी आयेगा।''

आदेश पाकर एक गोताखोर जल्दी से पूमलाई की झोपड़ी की ओर दौड़ा।

आठ बज चुके थे। सुबह का सूरज आसमान में ऊपर उठ आया था। कोलम्बो जाने वाला पहला जहाज अपना हूटर बजा रहा था। तूतीकोरन बन्दरगाह से रवाना होने के लिए वह तैयार खड़ा था। लोग इधर-उधर भागमभाग में मशगूल थे। यात्री जहाज पर चढ़ रहे थे। उनके दोस्त समूहों में गप्पें लड़ा रहे थे। बन्दरगाह पर एक उत्साह का माहौल था। जहाज पर चढ़ा दिये गये और कुछ चढ़ा दिये जाने के इनतजार में पहाड़ियों की तरह जमा लदाव के सामान से एक तीखी गन्ध उठ रही थी और समुद्र के किनारे के रुके हुए गन्दे जल से उठ रही गन्ध उसमें दबी-सी जा रही थी। परमशिवम पिल्लई और उसके मजदूरों का दल पूमलाइ के आने का बेताबी से इन्तजार कर रहा था। शंख निकालने की जगह वहाँ से दूर थी, किनारे से खासी दूर और छोटी-बड़ी नावों का एक बेड़ा बन्दरगाह के किनारे रवाना होने के लिए तैयार खड़ा था।

कोई एक-डेढ़ घंटे बाद वह आदमी पूमलाइ के साथ लौट आया।

''क्या तुम्हें बच्चा होने की खबर देने कोई नहीं आयेगा? जरूर कोई न कोई यह खबर तुम तक पहुँचाएगा, पूमलाइ! क्या सारा वक्त तुम्हें अपनी झोपड़ी में पड़े रहने की जरूरत है?'' परमशिवम ने पूछा। वह उसे धीरे से मनाने की कोशिश कर रहा था।

''बात यह नहीं है मालिक...'' पूमलाइ संकोच से बुदबुदाया, ''मेरी बूढ़ी माँ ने मुझसे कहा... मैं आज न जाऊँ... सिर्फ आज के लिए... सिर्फ आज के लिए...'' उसके शब्द कमजोर-सी आवाज में धीरे-धीरे निकल रहे थे।

''कितने मूर्ख हो तुम! तुम एक दिन की मजदूरी खोना चाहते हो? यह कतई जरूरी नहीं है। कितना फालतू और फिजूल है यह सब! चलो एक भले आदमी की तरह घुटन्ना पहनो और काम में लग जाओ। जैसे ही मुझे खबर मिलेगी कि बच्चा हो गया है, मैं तुम्हें तुरन्त घर भिजवा दूँगा।''

''मालिक... मालिक... दया करके मुझे माफ कर दें। मैं आज गोता नहीं लगा पाऊँगा... सिर्फ आज के लिए...'' पूमलाइ ने दयनीय स्वर में प्रतिवाद किया। कई बार रुक-रुक कर, ''मेरा मन ठीक नहीं है... मेरा जी यहाँ परिवार में लगा रहेगा तो मैं वहाँ काम कैसे कर पाऊँगा?''

''हुँह! मन ठीक नहीं है। तुम क्या जानो मन के बारे में? बड़ी-बड़ी बातें बघार रहे हो... मूर्ख मत बनो... सुनो पूमलाइ, चलो काम शुरू करो।'' परमशिवम जिद पर था।

पूमलाइ में प्रतिवाद का साहस न बचा था। उसके पास कोई विकल्प भी नहीं था। घुटन्ना पहनकर वह दूसरे लोगों के साथ नाव में बैठ गया। रवाना होने के लिए तैयार। पूमलाइ को मनाने में सफल होने से खुश परमशिवम पिल्लई भी दूसरी नाव में बैठ गया। नावें समुद्र में तेजी से चलने लगीं– उस ओर जहाँ मोती

और शंख निकालने की जगह तय थी।

जैसे-जैसे लहरों पर नावें बढ़ी जा रही थीं, पल पर पल झोपड़ियाँ... बन्दरगाह धीरे-धीरे सब पीछे छूटे जा रहे थे। पूमलाइ नाव में बिल्कुल निश्चल बैठा था। उसकी नजर पीछे छूटते जाते किनारे की ओर लगी थी। उसके दिमाग में हलचल मची थी। शंख जमा करने की आज उसकी जरा भी इच्छा न थी।

''**अच्छा** बताओ, पूमलाइ को लड़का होगा कि लड़की?'' नाव में किसी ने मजाक किया।

''तन्दुरुस्त लड़का होगा।'' दूसरे ने तुरन्त जवाब दिया।

''नहीं, एक सुन्दर लड़की होगी।'' तीसरे ने कहा।

''अच्छा शर्त लगाओ! कित्ते-कित्ते की...?''

''शंख निकालेन की आज की मेरी पूरी मजदूरी की शर्त।''

''तुम शर्त क्यों लगा रहे हो? लड़की हो या लड़का, स्वस्थ हो और जच्चा-बच्चा सुखी रहें... हमारी सबकी तो कामना यही है...'' नाव में बैठे एक बूढ़े ने कहा।

पूमलाइ के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी, क्योंकि जैसे वह सारी बातों का मजा ले रहा हो, लेकिन मन से वह तब भी वहाँ नहीं था।

नावें शंख निकालने की जगह पहुँच गयीं। गोताखोरों ने अपने बदन पर जोर-जोर से ग्रीस मलना शुरू कर दिया। पानी के भीतर शरीर की गर्मी बचाये रखने के लिए यह जरूरी था, लेकिन पूमलाइ नाव में शान्त बैठा था। चुप और उदास।

''तुम अभी तक चुपचाप क्यों बैठे हो? चलो बदन में तेल लगाओ और पानी के अन्दर घुसो। सुनो मेरी बात सुनो... घर की फिकर मत करो... सबकुछ ठीक होगा...'' परमशिवम पिल्लई चिल्लाया।

संज्ञाहीनता की-सी स्थिति से जागा हुआ-सा पूमलाइ अपने बदन पर ग्रीस मलने लगा। उसने जोर-जोर से उसकी मालिश शुरू कर दी। रगड़ से अपनी हथेली में उसने एक गरमी महसूस की।

गोताखोर एक के बाद दूसरे पानी के भीतर कूदते गये। पूमलाइ गोता लगाने वालों में आखिरी था। ठेकेदार परमशिवम नाव में बैठा था... समुद्र के फैले हुए विस्तार और नावों को हिलाती-डुलाती लहरों को आतुर-सा देखता हुआ।

जैसे-जैसे दिन चढ़ता चला गया, नावें शंख-घोंघों-सीपियों से तेजी से भरने लगीं। सारे गोताखोरों द्वारा मिलकर जमा किये गये शंख-घोंघों की तुलना में अकेले पूमलाइ ने दोगुना काम किया था। परमशिवम पिल्लई खुशी से चमक उठा। आधा दिन बीत गया था और सभी गोताखोर थककर चूर हो गये थे। वे अपनी-अपनी नावों में वापस चले गये और अपने खाने की पोटरियाँ खोलने लगे।

पूमलाइ अभी भी व्यस्त था। गोते लगाता, शंख-घोंघें जमा करता और फिर गोता लगाता।

''अब बस भी करो पूमलाइ। नाव में लौट आओ। अपना खाना खा लो। थोड़ा आराम करो। तुम फिर कोशिश करना।'' पिल्लई ने अपनी आवाज में प्यार उड़ेलते हुए कहा।

''थोड़ी देर रुके मालिक। एक कोशश और... इस पहर की आखिरी... फिर मैं लौट जाऊँगा।'' पूमलाइ ने जवाब दिया।

''बहुत अच्छा।''

पूमलाइ ने गोता लगाया। समुद्र की नीली सतह के नीचे उसके सिर का ऊपरी हिस्सा अभी डूबा ही था कि परमशिवम पिल्लई ने देखा किनारे से एक नाव तेजी से उसकी ओर चली आ रही है। जैसे ही वह पास आई, उसने पहचान लिया, पूमलाइ का छोटा भाई नाव खे रहा था। उसने जल्दी में उसकी ओर देखा और जानना चाहा उसके चेहरे से, कि बात क्या है?

''क्या खबर है? तुम इतनी जल्दी में क्यों आये हो?'' पिल्लई ने जैसे ही नाव उसके करीब आई, पूछा।

''मेरी भाभी गोमती मर गयी... मैं अपने भाई को घर ले जाने के लिए आया हूँ।''

''अरे! क्या मुसीबत है... क्यों, क्या बच्चा नहीं हुआ?''

''वह मरा हुआ बच्चा था। मामी को बेहद तकलीफ हुई और वो खतम हो गयी।''

उसकी बात खत्म हुई ही थी कि उसने अपने करीब सतह पर उठती लहरों की ओर देखा– पूमलाइ अपना हाथ ऊपर उठाकर निकला।

''मालिक... मालिक... देखो... देखो तो... मेरे हाथ में क्या है? यह है– दक्षिणावर्त शंख। दाहिनी ओर बनी धारियों वाला शंख। वाह, क्या किस्मत है!'' उसकी साँस तेजी से चल रही थी। उसका हाथ ऊपर की ओर उठा था कि सब उस शंख को देख लें। सब लोगों की आँखों में अचरज था... आँखें उसके उठे हुए हाथ पर लगी थी।

दक्षिणावर्त शंख! यह कोई मामूली चीज नहीं है। इस तरह का एक शंख ही लाखों रुपयों का होता है। वह सो-दो सौ बरसों में समुद्र की तलहटी में एकाध बार ही मिल पाता है। उसका मिलना सौभाग्य का प्रतीक होता है। अचरज नहीं कि महाराजा और लखपति लोगों में इस दुर्लभ शंख को पाने के लिए होड़-सी लगी रहती है। वह फिर जैसे भी मिले।

पूमलाइ एक कुशल गोताखोर था और उसके हाथ सधे हुए थे। समुद्र की तह से शंख जमा करने में उसकी तेजी का, उस इलाके में कोई सानी नहीं था। एक बार वह घुटन्ना पहनकर जब गोते पर गोता लगाता तो शाम होते-होते शंखों का पहाड़ लगा देता था, जबकि दस या बीस शंख जमा करने में ही दूसरे गोताखोरों की साँस फूल जाती थी।

परमशिवम पिल्लई की आँखें अचरज से फटी जा रही थीं। लोग एकटक पूमलाइ की कसी हुई मुट्ठी और उसमें दबे दक्षिणावर्त शंख की ओर देख रहे थे। उसने उस शंख को नजदीक से देखा– उसके सुन्दर मोड़ और दायीं ओर बने आवर्त... एक के ऊपर दूसरे... कतार-दर-कतार.... और आकार में बड़े लाल-हरे नारियल की तरह। खुशी की चीख निकल पड़ी। पूमलाइ की बाँह अभी भी फैली थी। वह शंख जमा करने के लिए परमशिवम पिल्लई की नाव के पास आया।

''भैया! गोमती भाभी नहीं रही... वह मर गयी...'' पूमलाइ के भाई ने जैसे ही उसका चेहरा समुद्र की सतह से उठता हुआ देखा, वह फफक कर रो पड़ा। अपनी नाव खेकर वह उसके पास आ गया।

शंख पर पूमलाइ की पकड़ ढीली हो गयी। वह उसके हाथ से फिसलकर समुद्र में गिर पड़ा।

''हे भगवान। पूमलाइ... वह डूब रहा है... नीचे समुद्र में... गोता लगाओ... उसे वापस लाओ... पकड़ो उसे... पूमलाइ... जल्दी करो... भगवान के लिए जल्दी करो... वह लाखों का है!'' परमशिवम आपे से बाहर होकर चिल्लाया।

पूमलाइ ने उसे नहीं पकड़ा। उस लम्हा उसकी सारी ताकत जवाब दे चुकी थी। उसके हाथ अपने भाई की नाव पर थे और वह दुख में डूब चुका था।

परमशिवम पिल्लई अधीर हो उठा। पूमलाइ चुपचाप स्तब्ध खड़ा था। ''ओ छोकरो, तुम खाना बाद में भी खा सकते हो, तुरन्त गोता लगाओ और उसे वापस लाओ... सब लोग गोता लगाओ... जल्दी।'' परमशिवम पिल्लई ने आदेश दाग दिया।

पूरा समूह अपना खाना छोड़कर समुद्र में कूद पड़ा।

दक्षिणावर्त शंख के अनायास प्राप्त सौभाग्य से वंचित होने के दुख में परमशिवम, पूमलाइ को पूरी तरह भूल चुका था। पूमलाइ अपनी पत्नी और बच्चे को खोकर चुपचाप खड़ा था। परमशिवम का गुस्सा पूमलाइ के भाई पर उतरा, ''क्यों बे नामाकूल... नाकारा... क्या तू थोड़ी देर रुक नहीं सकता था। शंख को नाव में रखने तक क्या तू अपनी जबान बन्द नहीं रख सकता था! तुझे ठीक इसी वक्त यह मनहूस खबर देनी थी?''

उस बेचारे ने उसकी ओर सिर्फ कातर निगाहों से देखा। पूमलाइ अभी भी सुबक रहा था। उसके भाई ने हाथ बढ़ाकर उसे उठाया। उसे नाव में बिठाया और किनारे की ओर उसे खे चला।

परमशिवम पिल्लई एक व्यग्र आशा में समुद्र और गोताखोरों की ओर टकटकी लगाये था। एक के बाद दूसरे गोताखोर ऊपर आते गये।

''मालिक! वह नहीं मिला।'' हर गोताखोर ने यही एक जवाब दिया।

परमशिवम पिल्लई को लगा कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जो जन्मजात अन्धा है, लेकिन जिसे एक क्षण के लिए रौशनी मिली और फिर रौशनी का वह वरदान अचानक उससे छीन लिया गया। उसे ऐसी सम्पत्ति मिली थी जिसकी वह स्वप्न में भी कल्पना न कर सकता था, जिसे लगातार दस बरसों तक शंख निकालने के ठेके के बावजूद वह पा नहीं सकता था। उस शंख के रूप में यह खजाना उसके सामने था। उसके लखपति होने का यह संयोग और यह निश्चय अब खत्म हो गया था। पूमलाइ ने उसे बरबाद कर दिया। पूमलाइ के भाई और उस नामुराद खबर से उसे कहीं का न रखा। वह अपने दिल की गहराई से उन्हें कोस रहा था।

''नहीं, मैं उस शंख को छोड़ूँगा नहीं। किसी भी तरह... जैसे भी हो... मैं उसे प्राप्त करूँगा।'' परमशिवम ने निश्चय किया। बार-बार फिर-फिरकर उसने गोताखोरों को उसी जगह भेजा। उसने पूमलाइ के बाद इलाके के सबसे कुशल और ताकतवर गोताखोरों को बुलावा भेजा और उन्हें यह काम सौंपा, लेकिन उसके हर प्रयत्न के बावजूद उसे निराशा ही हाथ लगी। आग की चिंगारी से कपास की गाँठ जैसे जलती है, उसकी हताशा उसके समूचे अस्तित्व को भीतर ही भीतर खाये जा रही थी।

एक लम्बे सोच-विचार के बाद परमशिवम पिल्लई ने तय किया कि वह पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करवायेगा।

रिपोर्ट थी– पूमलाइ किराये के गोताखोर की हैसियत से मेरे यहाँ काम करता था। उसने मेरे एक दक्षिणावर्त शंख को, जिसकी कीमत कई लाख रुपये है, कल सुबह समुद्र में फेंक दिया। मैं प्रार्थना करता हूँ कि पुलिस पूमलाइ को मजबूर करे कि वह उसी स्थान पर समुद्र में गोता लगाये जहाँ उसने शंख

फेंका था और उसे वापस लाये और मेरी खोयी हुई सम्पत्ति वापस दिलायी जाये या फिर बदले में मैं प्रार्थना करता हूँ कि पूमलाइ के खिलाफ माकूल कार्रवाई की जाये और उसे मुनासिब सजा दी जाये।

रिपोर्ट जो रत्ती-भर सच और बहुत सारे झूठ की मिलावट थी, दूसरी सुबह पुलिस में दर्ज करवा दी गयी। इसके अलावा परमशिवम पिल्लई खुद पुलिस इंस्पेक्टर के पास गया।

''यदि आप उसे भगवान का डर बताकर उस जगह ले आयें तो वह जरूर शंख वापस ले आयेगा।''

इंस्पेक्टर तैयार हो गया। ''आप उस जगह चलें और तैयार रहें। मैं सीधे उसकी झोपड़ी जा रहा हूँ। उसे भयानक नतीजों का डर दिखाकर समुद्र तक ले आऊँगा। हम समुद्र से उस शंख को निकालने के लिए उसे मजबूर करेंगे।''

दक्षिणावर्त शंख कोई मामूली चीज नहीं है। परमशिवम पिल्लई जैसे भी हो उसे वापस पाने के अपने निश्चय में दृढ़ था।

पूमलाइ अपनी बीवी और बच्चे का दाह-संस्कार करके घर लौटा था। वह अपनी झोपड़ी के बाहर पियाल पर गुड़ी-मुड़ी लेटा था। उसका दिल गमगीन था। उस दिन और उसके भी पहले दिन उसने अनाज का दाना तक नहीं छुआ था। वह सारा वक्त रोता रहा था। उसकी सोचने की ताकत पूरी तरह जवाब दे चुकी थी। झोपड़ी के भीतर उसकी बूढ़ी माँ रोते-रोते कोई शोकगीत रिरिया रही थी। पूमलाइ का भाई कड़वाहट से भरा था– ''कैसा बेरहम इंसान है! एक शंख का खो जाना, उसके लिए मेरी भाभी और उसके बच्चे की मौत से भी ज्यादा हो गया! और फिर कितना घमंडी है!'' गुस्से और खीझ से वह तमतमा उठा।

उसी समय कुछ सिपाहियों के साथ पुलिस इंस्पेक्टर चुपचाप आया और झोपड़ी के सामने खड़ा हो गया। एक सिपाही पूमलाइ के पास आया। पूमलाइ को सोता हुआ समझ कर उसने उसे बेत से धीरे-धीरे टपटपाया। पूमलाइ जो दरअसल जाग रहा था, कूद कर, भौंचक्का खड़ा हो गया। इंस्पेक्टर ने उसे आने का इशारा किया और उसे अकेले में बातें करने के लिए कुछ दूर ले गया। पूमलाइ झगड़ा-फसाद कर सकता था और इंस्पेक्टर उसे बचाना चाहता था।

''कहाँ ले जा रहे हो मुझे? मैंने कुछ भी नहीं किया है! अपनी बीवी और बच्चे खोकर मैं खुद भी अधमरा हो गया हूँ। ऐसी हालत में तुम मुझे कहाँ...?'' पूमलाइ प्रतिवाद में रोने लगा।

''चुप रहो... पूमलाइ, इधर आओ... बोलो मत... तुम्हें जेल

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र
रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की संवाद पत्रिका

रंग संवाद

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, दिल्ली
द्वारा श्रेष्ठ प्रकाशन पुरस्कार से सम्मानित

प्रधान सम्पादक
संतोष चौबे

सम्पादक
विनय उपाध्याय

संपादकीय संपर्क:
टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, ऋतुरंग प्रकोष्ठ, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, ग्राम मेंदुआ, पोस्ट-भोजपुर,
बंगरसिया चौराहा के पास, भोपाल-चिकलोद रोड, रायसेन-464993 मोबाइल : 9826392428

भी जाना पड़ सकता है... यह आफत तुमने खुद अपने ऊपर बुलाई है... यदि तुम बचना चाहते हो तो चुपचाप वही करो जो मैं कहता हूँ।''

''क्या, जेल? ...मैंने ऐसा क्या किया है जो मैं जेल जाऊँ? मैं कुछ भी नहीं जानता... मैंने कुछ भी नहीं किया है... मैं बिलकुल बेगुनाह हूँ।'' पूमलाइ चीखने लगा।

''झूठ मत बोलो। कल जब तुम शंख इकट्ठा कर रहे थे, तुमने एक दक्षिणावर्त शंख समुद्र में फेंक दिया– कि नहीं! ठीक! तुम आज जाओ और उसे ले आओ। यदि नहीं तो तुम्हें जेल जाना पड़ेगा। तुम्हारी जमकर पिटाई होगी। लात-घूँसों से तुम्हारी अच्छी मरम्मत होगी। हाँ! मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ। तुम्हें अभी पता चल जाएगा।'' पुलिस इंस्पेक्टर अपने असली रूप में था।

''मैंने उसे जानबूझकर नहीं फेंका। शंख के साथ मैं ऊपर आ रहा था। मेरे भाई ने आकर खबर दी कि मेरी बीवी और मेरा बच्चा मर गया है। इस सदमे से मेरी पकड़ ढीली पड़ गयी और शंख फिसल कर समुद्र में गिर पड़ा।'' पूमलाई ने समझाया।

''मैं यह सब कुछ नहीं जानता। ठेकेदार परमशिवम पिल्लई ने एक रिपोर्ट दर्ज करवाई है। जब तक तुम फिर से गोता लगाकर वह खोया हुआ शंख वापस नहीं लाते, तब तक तुम्हें छोड़ा नहीं जाएगा।'' इंस्पेक्टर ने धमकी दी।

सिपाहियों ने उसे दोनों बाजुओं से पकड़कर आगे धकेला।

परमशिवम पिल्लई पहले से ही नावों और आदमियों के साथ समुद्र के किनारे मौजूद था। पूमलाइ के साथ इंस्पेक्टर और सिपाहियों के पहुँचते ही नावें उस जगह की ओर खेयी जाने लगीं। वे जैसे ही उस जगह के पास पहुँचे, जहाँ वह दक्षिणावर्त शंख पहले दिन समुद्र में गिरा था, नावें पहले की तरह एक तीर की शक्ल में रोक दी गयीं। इंस्पेक्टर और परमशिवम पिल्लई ने पूमलाइ को पानी में घुसने के लिए मजबूर कर दिया।

''दया करो मालिक। अभी नहीं। मैं दुखी और परेशान हूँ। पानी के भीतर अपनी साँस रोक नहीं पाऊँगा। पिछले दो दिनों से मैंने कुछ भी नहीं खाया है। आज मुझे माफ कर दो। हम लोग किसी दूसरे दिन कोशिश करेंगे...।'' पूमलाई ने विनती की।

वह उनके पैरों पर लगभग गिर पड़ा, लेकिन वे लोग अपनी जिद पर थे। वे अड़े रहे कि वह उसी दिन, उसी वक्त गोता लगाये। उस वक्त घुटन्ने भी उपलब्ध नहीं थे। जो धोती वह पहने था, उसे ही उसने घुटन्ने की शक्ल में लपेट लिया। नाव में ग्रीस अलबत्ता था। उसने उसे शरीर पर मल लिया। यदि उसने थोड़ी भी देर की होती तो मुमकिन है वो उसे समुद्र में धकेल ही देते। साँस रोक कर पूमलाइ समुद्र में कूद पड़ा।

आशा और आतुरता से भरा परमशिवम पिल्लई उस जगह को एकटक देख रहा था, जहाँ पूमलाइ ने कूदकर गोता लगाया था।

पाँच मिनट बीते। छह मिनट। दस मिनट, लेकिन अभी तक कोई चिह्न नहीं। पन्द्रह मिनट। अभी तक पूमलाइ का कोई निशान नहीं। अधीर होकर परमशिवम पिल्लई ने दूसरे गोताखोर से उसी जगह गोता लगाने के लिए कहा। वह कूद पड़ा। बहुत जल्द ही सतह पर उभरा– किसी मरी-सी चीज को खींचता हुआ-सा।

सारी आँखें चिन्तित-सी उस चीज को देख रही थीं जो सतह पर लायी गयी थी। और... लो... वह पूमलाइ का शरीर था। नावों में बैठे सिपाहियों ने गोताखोर की ओर हाथ बढ़ाकर उसे नाव पर चढ़ने में मदद की। पूमलाइ की लाश नाव में रख दी गयी।

अचम्भा...!

लाश के दाहिने हाथ की मुट्ठी दक्षिणावर्त शंख पर कसी हुई थी।

इस अचम्भे को देखकर क्षण-भर के लिए अपने आपको भूलकर इंस्पेक्टर और परमशिवम पिल्लई एक साथ चीखे– वाह...!

''शेख के साथ ऊपर आते हुए बेचारे की साँस टूट गयी होगी और वह मर गया।'' वह गोताखोर जो लाश लाया था, बुदबुदाया।

परमशिवम पिल्लई के दिमाग से पूमलाइ की मौत का विचार बिल्कुल गायब हो गया था। उसने वह लोकविश्रुत शंख देखा। वह दुर्लभ खजाना जो अनेक बरसों से एकाध बार ही मिल पाता है। उल्लास में वह खुद को भी भूल गया।

यह उसके पूर्वजों के कई-कई पीढ़ियों के पुण्यों का प्रसाद था। उसे दोबारा वरदान मिला था। पहली बार उसे वह बिलकुल अविश्वसनीय रूप से मिला था। फिर वह खजाना उसके हाथों से फिसल गया और अब फिर मिल गया– जैसे कोई मरा हुआ आदमी फिर से जिन्दा हो उठा हो! इस परम उल्लास में परमशिवम पिल्लई खुद को भूल गया तो अचरज क्या?

''दक्षिणावर्त शंख, सचमुच एक नायाब चीज है। लाखों क्यों, वह करोड़ों रुपयों का होता है।'' इंस्पेक्टर हैरत में बोला।

लोग कहते हैं कि जिसे दक्षिणावर्त शंख मिलता है, उसे हर किस्म की समृद्धि का वरदान मिलता है। क्या यह सच है? तब क्यों बेचारा पूमलाइ समुद्र में साँस लेने के संघर्ष में मर गया?

इस सवाल पर सोचने की किसी को फुरसत नहीं थी।

❑

❑ लम्बी कहानी

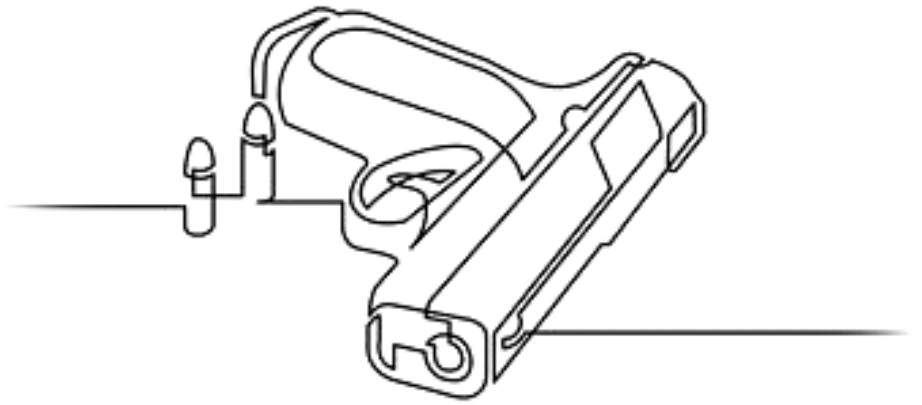

पिस्तौल

मधुसूदन आनन्द

उसने ट्रेन से आते-जाते कई बार वह स्टेशन देखा था, पर वह कभी वहाँ उतरा नहीं था। वह एक छोटा-सा स्टेशन था। गाँव स्टेशन से दूर रहे होंगे, क्योंकि दोनों तरफ दूर-दूर तक सिर्फ गन्ने के खेत थे। जोगिन्दर भाई साहब ने उसे अच्छी तरह समझा दिया था कि स्टेशन के अपोजिट जाना है। कोई दो-ढाई किलोमीटर की दूरी पर सरदार सन्तोख सिंह के खेत आएँगे। वहाँ सन्तोख सिंह का ट्रैक्टर खड़ा होगा और दो-चार बन्दे भी मिल जाएँगे। उनसे कहना सन्तोख सिंह से मिलना है। वे मिलवा देंगे। उनको कुछ भी नहीं बताना है। सन्तोख सिंह के परिवार को भी। सिर्फ सन्तोख सिंह को ही मेरा मैसेज देना है और उस चीज को बहुत सँभालकर लाना है। किसी को हवा भी नहीं लगनी चाहिए कि तुम क्या ले जा रहे हो। न ही तुम उसे बीच में खोलकर देखोगे। तुम्हें, और किसी को यह भी

नहीं बताना है कि तुम्हें किसने भेजा है, तुम कौन हो और कहाँ से आये हो। और हाँ, आँख-कान खुले रखना कि कोई तुम पर निगाह तो नहीं रख रहा है! किसी से फालतू बात नहीं करनी है। यह तुम्हारा इम्तहान है। तुम वह चीज ले आये तो मैं ज्यादा हिम्मत और आत्मविश्वास से उनका मुकाबला कर सकता हूँ।

उनका दो रोज पहले कस्बे के एक दादा से झगड़ा हुआ था और उन्होंने उसे इतनी मार लगायी थी कि उसका मुँह सूज गया था। सारा शहर इस बात से खुश था कि सेर को आखिर सवा सेर मिल ही गया, लेकिन जोगिन्दर भाई साहब थोड़े चिन्तित थे। दादा लड़के के पिता के पास देसी दारू का ठेका था, जहाँ छँटे हुए बदमाश आते थे। उस दादा लड़के के दो लम्बे-तगड़े भाई भी थे, हालाँकि वे किसी से नहीं उलझते थे और अपने काम से काम रखते थे। दादा लड़का धमकियाँ भिजवा रहा था कि जोगिन्दर की टाँगें चीर कर रख देगा, बड़ा कम्युनिस्ट बनता फिरता है! भाई साहब ने साबित कर दिया था कि उस-जैसे दो-तीन दादाओं से वे आसानी से निपट लेंगे, लेकिन उन्हें डर था कि अगर कहीं ज्यादा जने हमला करने आ गये और उनके पास कोई खतरनाक हथियार भी हुआ तो मुश्किल हो जाएगी। भाई साहब अकेले थे, मगर बेहद दिलेर थे। उन्होंने अपने एक कम्युनिस्ट दोस्त की मार्फत मसैज भिजवा दिया था कि दादा सारे शहर में चाहे कुछ भी कहता फिरे, पर एक बार भी उसने उनके चबूतरे पर पाँव रखा तो इस बार उसकी लाश ही गिरेगी।

राकेश उनके चाचा का लड़का था और बेहद दब्बू और डरपोक था। वह बारहवीं क्लास में पढ़ रहा था। भाई साहब एमएससी कर चुके थे और खाली थे। बेरोजगारी में वे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे और फैक्ट्रियाँ तथा गाँवों में पार्टी का काम करने जाते थे। सन्तोख सिंह कोटद्वार के पास बड़िया नामक गाँव में रहता था और पार्टी का शुभचिन्तक था। एक-दो बार राकेश ने सन्तोख सिंह को देखा भी है, पर वह तय नहीं कर पाया था कि उन्हें पहचान ही लेगा। दरअसल भाई साहब की बैठक में कई बार चार-चार, पाँच-पाँच जने बैठे मिलते। कुछ गाँव वाले बाहर चबूतरे पर बीड़ी फूँकते और भाई साहब से मिलने का इन्तजार करते। भाई साहब से उन्हीं दिनों उसने बुर्जुआ, पेटिबुर्जुवा, फ्यूडल, वर्ग-संघर्ष, डायलेक्टिकल मटीरियलिज्म, पीजेंट रिवोल्यूशन, मेनिफेस्टो, दास कैपिटल, कैपिटलिज्म, सोशलिज्म, नक्सलवाद और वर्ग-शत्रु आदि शब्द सुने थे। राकेश जनसंघ का समर्थक था और उन दिनों दीपक वाला बिल्ला लगाये चुनाव सभाओं में जाता था।

भाई साहब उसका मजाक उड़ाते थे और कहते थे कि तुम्हें सिर्फ हिन्दुओं से मतलब है। पूरे समाज के बारे में तुम कुछ नहीं सोचते। न समझते। भाई साहब ने राकेश को माओ की लाल किताब भी दिखायी थी। लाल रगं के कवर वाली इस किताब में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष माओ-त्से-तुंग के लेखों और भाषणों आदि के उद्धरणों का समावेश था। भारत में यह किताब प्रतिबन्धित थी, लेकिन भाई साहब ने राकेश को बताया था कि भारत-सहित दुनिया में इस किताब की करोड़ों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। राकेश अपनी जनसंघी पृष्ठभूमि के कारण किताब से कुछ डरा हुआ था, पर उत्सुक भी था। उसने भाई साहब से पूछा, ''माओ ने क्या सचमुच कहा है कि सत्ता बन्दूक की नली से पैदा होती है। तो माआवादी मारते किसे हैं?''

''वर्ग-शत्रुओं को।'' भाई साहब ने बताया और कहा, ''जो लोग सामन्तवादी और पूँजीवादी होते हैं और गरीबों का शोषण करते हैं। मजदूरों-किसानों के तो वे शुभचिन्तक है।'' वे बहस करते थे और फिर कहते थे, ''तुम्हारी पार्टी तो राकेश जी पूँजीवादियों, बनियों और ब्राह्मणों की पार्टी है और हमारी पार्टी तो शोषितों और मेहनतकशों की पार्टी है।'' राकेश कहता, ''भाई साहब, हमारी यूपी में भी ज्यादातर किसान, गरीब मजदूर और छोटे-मोटे काम-धन्धों में लगे लोग ही रहते है, फिर भी आपकी पार्टी यहाँ कहीं नहीं है। ऐसा क्यों?''

''यही साजिश है। हम तो नहीं, मगर माओ तो ऐसे इलेक्शन के ही खिलाफ हैं। तभी तो वे कहते हैं कि पावर तो बन्दूक की नोक से निकलती है।'' राकेश को भाई साहब तब और रहस्मय लगते। वह कहता कि गाँधी ने तो बिना खडग, बिना ढाल आजादी दिलवा दी तो वे तर्क देते हैं कि देश ने जानबूझ कर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को भुला दिया। वे लड़कर देश वापस लेना चाहते थे, पर उनके हिंसा के रास्ते की सफलताओं को हमारे देश में एक वर्जित विषय बना दिया गया है। राकेश का मुँह खुला का खुला रह जाता और उसे भाई साहब में माओ का लाल सैनिक दिखायी देने लगता। डर एक संकुचित गर्व में तब्दील होने लगता। बहरहाल यह उसने कभी नहीं सोचा था कि वे बन्दूक भी चला सकते हैं। कुछ बरस पहले तक भाई साहब छतों की मुंडेरो पर भागते हुए एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में पहुँच जाया करते थे। वे पेड़ पर चढ़ कर फल तोड़ लेते। बागों और खेतों में घुस जाते। नदी में तैरते। मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे में बेधड़क घुस जाते। नन्हें मियाँ की फील्ड में जाकर दौड़ते और फुटबॉल, हॉकी तथा बैडमिंटन खेलते थे। राकेश उन्हें अपना कवच समझने लगा था। लेकिन राजनैतिक रुझान के मामले में वह भाई साहब की बजाय अब भी अपने पिता के

ज्यादा करीब था, जो 1948 में गाँधी मर्डर केस में जेल जा चुके थे और आज भी आरएसएस को बहुत मानते थे।

वह डरा हुआ था कि पिता से इजाजत लिये बगैर ही भाई साहब के आदेश पर यहाँ दूर चला आया है। वह सोच रहा था कि पिता बेहद नाराज हो जाएँगे कि उसने ऐसे खतरनाक काम को अंजाम क्यों दिया! जरा ठहरकर सोचा भी नहीं। कहाँ उसका पारम्परिक सनातनी परिवार और कहाँ बन्दूक जैसा खतरनाक हथियार!

तीसरे पहर उस छोटे से बड़िया नाम के स्टेशन पर वह उतरा था। उसके साथ पाँच-सात मुसाफिर भी उतरे थे। गाड़ी काफी देर तक वहाँ खड़ी रही थी। स्टेशन पर सिर्फ एक बाबू और एक खलासी था। बाबू ही टिकट बाँटता था और वही टिकट कलेक्ट करता था। वही पिछले स्टेशन से सम्पर्क करता था और वही प्लेटफार्म पर ही बनी पारदर्शी केबिन से अप और डाउन के लिवर खींचता-दबाता था। कई बार उसे घंटा भी बजाना पड़ता था। स्टेशन सारे दिन सुनसान-सा पड़ा रहता। पूरे दिन-भर में वहाँ से छह बार ट्रेनें गुजरती थीं। जाहिर है, रेल बाबू के पास कोई खास काम नहीं था। राकेश ने निश्चिन्त हाने के लिए पूछा, ''क्यों साब, बड़िया के लिए स्टेशन के सामने वाले रास्ते से ही जाना होगा?''

बाबू ने सन्देह-भरी नजरों से देखा और पूछा, ''किसके यहाँ जाना है?'' उसे लगा होगा कि यह सोलह-सतरह साल का लड़का यहाँ क्यों आया है!

''बड़िया जाना है सरदार जी के यहाँ।'' राकेश ने कहा।

''हाँ यही रास्ता है। पर किसके यहाँ जाना है?'' उसने फिर से पूछा तो राकेश गोल कर गया और लाइनें पार कर एक कच्चे रास्ते की तरफ बढ़ गया, जिसके दोनों ओर खेत थे, जिनमें गन्ना खड़ा था। सड़क में गड्ढे थे और हवा चलने पर धूल उड़ती थी। वहाँ तो हालत यह थी की गड्ढे में ही उतरकर आगे बढ़ना होता था। गन्ने के खेत खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहे थे और दूर-दूर तक कहीं कोई आदमी दिखायी नहीं देता था। आगे कुछ पेड़ लगे दिखे थे जिसके नीचे कुछ कुत्ते बैठे थे। राकेश ने दूर से ही कुत्तों को देख लिया और आश्वस्त हो गया कि जरूर कुछ लोग भी आसपास होने चाहिए। अपनी हिफाजत के लिए उसने एक गन्ना तोड़ लिया था। गन्ने के खेत खत्म हो गये थे और अब कुछ खाली खेत दिखायी दे रहे थे। मगर वहाँ भी कोई आदमी नहीं था। न ही आसपास कोई बस्ती थी। कुछ दूर आगे जाने पर उसे एक साइकिल खड़ी दिखायी दी, मगर दूर-दूर तक कोई आदमी दिखायी नहीं दे रहा था। उसने जोर-जोर से आवाजें लगायीं तो एक सरदार अचानक कहीं से प्रगट हो गया। वह गन्ना चूस रहा था और धीरे-धीरे उसकी तरफ आ रहा था। राकेश को बहुत डर लग रहा था।

''मुझे सन्तोख सिंह जी से मिलना है।'' राकेश ने अटकते हुए कहा।

''बो तो चले गये।'' वह बोला और फिर घूरते हुए उसने कहा, ''तुसी एसे करो जे जो जमीन में ट्रैक्टर दी धारियाँ दिखायी दे रही हैं, इनके साथ-साथ चलते जाओ। आगे जे सड़क मुड़ेगी, तुसी भी मुड़ जाना। वहीं पिंड है।''

''सन्तोख सिंह?'' उसने प्रश्न-भरी नजर से सरदार से पूछा।

''बो भी बँई मिल जाएँगे।'' सरदार बोला।

दस मिनट के करीब चलने के बाद गाँव आ गया। वहाँ एक अहाते में ट्रैक्टर खड़ा था और दो-तीन खाटें बिछी थीं। तीन-चार सरदार वहाँ बैठे बातें कर रहे थे। उनमें से एक का चेहरा उसे कुछ परिचित-सा लगा।

''संतोख सिंह जी!'' राकेश ने अन्दाजे से कहा।

''हाँ बच्चे बोलो।'' उन्होंने कहा।

''मुझे आपसे ही काम है।'' राकेश ने धीरे-से कहा। फिर

आईसेक्ट पब्लिकेशन

सपने सोने नहीं देते

शशांक

मूल्य 375 रु.

शशांक की चिंताओं में कहानी, कविता, नाटक, वैचारिक गद्य, राजनीति, पत्रकारिता, इलेक्ट्रॉनिक माध्यम और सबसे बढ़कर- मानवीय संबंध- सभी शामिल हैं, लेकिन पुस्तक का अधिकांश हिस्सा कहानी और गद्य, उसमें बनने की प्रक्रिया, मूल्य और उनकी सार्वभौमिकता तथा स्वयं लेखक के बनने की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। उसमें दोस्तों, सहयोगियों, सहकर्मियों और सह-रचनाकारों को साथ लिया गया है और जैसे उनसे टकराकर विचार की किरणें वापस लौटती हैं, नये अर्थों को उद्भासित करते हुए।

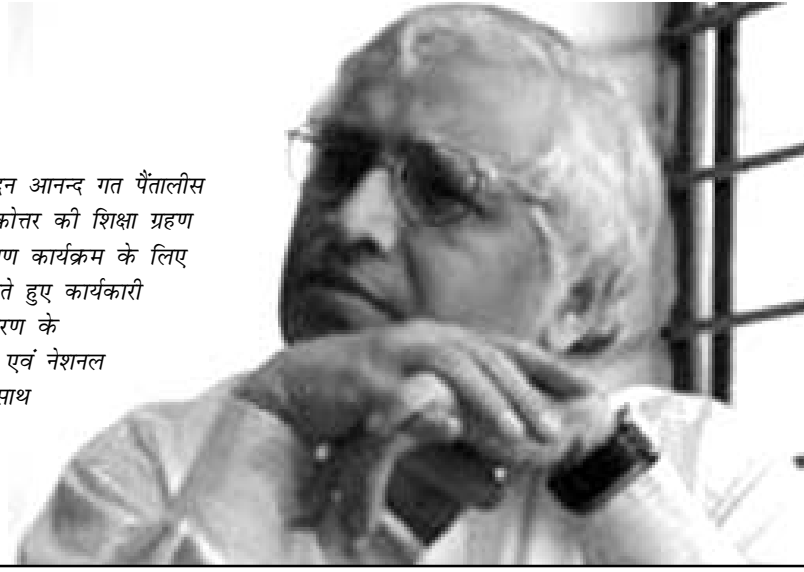

नजीबाबाद (उ.प्र.) में 20 दिसम्बर 1952 में जनमे मधुसूदन आनन्द गत पैंतालीस वर्षों से पत्रकारिता के क्षेत्र में सक्रिय हैं। हिन्दी में स्नातकोत्तर की शिक्षा ग्रहण की है। 1974 में टाइम्स ऑव इंडिया में पत्रकारिता प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए चुने जाने के बाद नवभारत टाइम्स में विभिन्न पदों पर रहते हुए कार्यकारी सम्पादक बने। थोड़े समय के लिए दिल्ली में दैनिक जागरण के सम्पादक भी रहे। बाद में नई दुनिया के राष्ट्रीय सम्पादक एवं नेशनल दुनिया के समूह सम्पादक रहे। प्रिंट पत्रकारिता के साथ-साथ रेडियो और टेलीविजन से भी सक्रिय तौर पर जुड़े रहे हैं। कोलोन जर्मनी में रेडियो डॉएचे वैले (द वॉयस ऑव जर्मनी) की हिन्दी सर्विस में चार साल तक सम्पादक और बाद में वॉयस ऑव अमेरिका के नयी दिल्ली स्थित संवाददाता भी रहे। हिन्दी साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति। कविता, कहानी एवं निबन्ध प्रिय विधाएँ हैं। अब तक प्रकाशित पुस्तकें हैं– पृथ्वी से करें फरमाइश (कविता), करौंदे का पेड़, साधारण जीवन, बचपन, थोड़ा-सा उजाला (कहानी), जो सामने है (निबन्ध)। राजेन्द्र माथुर संचयन का सम्पादन भी किया है। उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पत्रकारिता भूषण सम्मान, हिन्दी अकादेमी पत्रकारिता सम्मान, हिन्दी अकादेमी दिल्ली द्वारा कृति सम्मान एवं मुम्बई के प्रियदर्शिनी पुरस्कार से सम्मानित।

उनके कान के पास फुसफुसा कर वह बोला, ''मुझे जोगिन्दर भाई साब ने भेजा है।''

सरदार जी ने गन्ने का गर्म रस पीने को दिया और फिर अलग ले जाकर पूछा, ''क्या कहा है?''

''उन्होंने औजार मँगाया है।'' राकेश बोला।

सरदार सन्तोख सिंह सिर से पैर तक राकेश को बार-बार आश्चर्य से देखने लगे और फिर बोले, ''काक्का, तूँ ले जाएगाँ?''

''हाँ!'' राकेश ने पूरे आत्मविश्वास से कहा।

सरदार सन्तोख सिंह सोच में पड़ गये और फिर घर के अन्दर चले गये। कुछ देर बाद वे एक झोला लिये आये, जिसमें कपड़े रखे हुए थे। फिर उन्होंने कहा, ''सँभालकर ले जाना। इसको तुसी वी देखणा नई। ना ही किसी से बात करणा।''

राकेश झोला लेकर वापस जाने लगा। वह डर भी रहा था और उसके अन्दर कहीं खुशी भी थी। उसे लगा कि उस पर बेहद बड़ी जिम्मेदारी आ गयी है और उसे हर हालत में खरा उतरना है। उसने झोले को कसकर पकड़ लिया और चल पड़ा। वह बेहद सतर्क होकर चल रहा था। कभी वह बायें देखता कभी दायें। कभी वह पीछे देखता कि कोई आ तो नहीं रहा है। इधर उसके अन्दर यह इच्छा बार-बार उठती थी कि देखूँ यह चीज है क्या? थोड़ी दूर जाने पर उसने झोले को खोला, लेकिन उसे कोई चीज दिखायी नहीं दी। उसमें सरदार जी की एक पुरानी पगड़ी रखी थी। उसके नीचे मुसी-मुसी पुरानी लुंगी दिखायी दी। लुंगी के नीचे शनील की एक कत्थई थैली में कोई कड़ी-सी चीज थी। उसने शनील की थैली पर से हाथ हटा लिया। थोड़ी दूर चलने पर उसका मन फिर हुआ। उसने चौकस नजरों से चारों तरफ देखा।

सूरज छिपा नहीं था और पूरा चानना था। कच्ची सड़क के दोनों ओर गन्ने के खेतों में शान्ति थी और दूर-दूर तक कोई आदमी वहाँ नहीं था। वह गन्नों को चीरता हुआ एक खेत में घुस गया। वहाँ उसने खड़े होने लायक जगह ढूँढ़ ली। फिर उसने थैला खोला और उसमें से शनील की थैली बाहर निकाली। थैली खोलते हुए उसे डर भी लग रहा था और कुछ रोमांच भी हो रहा था। जैसे मरे हुए साँप को भी हाथ में लेने से लोग डरते हैं, वैसा ही उसके साथ हो रहा था। उसने हिम्मत करके पिस्तौल बाहर निकाल ली और ध्यान से देखने लगा। तभी उसके पाँवों के पास से कोई चूहा आदि गुजरा। वह डर गया और काँपने लगा। पिस्तौल हाथ से छूटकर नीचे जा गिरी। उसने झुककर उसे उठाया। उस पर लगी मिट्टी को झाड़ा और गन्ने के खेत से बाहर आ गया, ऐसा अभिनय करते हुए मानो वह पेशाब करने के लिए कोई जगह ढूँढ़ने खेत में गया हो। वैसे अभिनय की कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि बाहर तो कोई परिन्दा तक भी नहीं था। पर वह बेहद सतर्क था। पिस्तौल देखने के बाद उसमें गजब का आत्मविश्वास आ गया और डर गायब हो गया। वह तेज-तेज कदमों से स्टेशन की तरफ बढ़ने लगा। उसे लग रहा था कि उसने एक किला फतह कर लिया है। पर उसे मालूम नहीं था कि यह पिस्तौल चलायी कैसे जाती है। उसने तो कभी गुलेल तक को नहीं छुआ था।

स्टेशन पर अँधेरा उतरने ही वाला था और वहाँ कोई भी मुसाफिर नहीं था। उसने टिकट लिया और ट्रेन का इन्तजार करने लगा। ट्रेन थोड़ी लेट थी। खलासी टिकट बाबू के साथ बतिया रहा था, पर उसे लगा कि टिकट बाबू की घाघ आँखें यह जानने की कोशिश कर रहीं है कि झोले में क्या है!

टिकट बाबू ने पूछा, ''घर आसानी से मिल गया था?''

''जी हाँ!'' उसने जवाब दिया और एकदम से आगे बढ़ गया ताकि टिकट बाबू और कोई बात पूछ ही न सके। टिकट बाबू ने कहा भी कि वहाँ अँधेरे में प्लेटफार्म पर जाकर क्या करोगे, यहीं हमारे पास बैठो। ट्रेन आने वाली है। लेकिन राकेश ने उसे अनसुना कर दिया।

राकेश ने न तो कभी छुरा देखा था, न गुप्ती। उसको यह मालूम तो था कि कुछ लड़के छुरे-चाकू रखते हैं, पर ऐसे लड़कों से उसका कोई वास्ता कभी नहीं रहा। अलबत्ता उसने तरह-तरह की तलवारें, कटारें, भाले, धनुष, तीर आदि जरूर देखे थे। उसने पिस्तौल चमड़े के केस में एक पुलिस अधिकारी की वर्दी से बँधी कई बार दूर से देखी थी, लेकिन उसे आज तक हाथ में नहीं लिया था। उसे रोमांच हो रहा था कि उसने पिस्तौल को इतनी अच्छी तरह देख लिया है। इस रोमांच ने भीतर से उसे पराक्रम से भर दिया। उसने सोचा अब दादा की खैर नहीं! ...दादा, भाई साहब के चबूतरे पर खड़ा होकर भाई साहब को गालियाँ दे रहा है और भाई साहब ने गोली दाग दी है। पहली गोली में ही वह ढेर हो गया है और मोहल्ले के लोग वहाँ जमा हैं। उसके पिता भी वहीं है और जोगिन्दर को डाँट रहे है। वह सोचने लगा कि मुझे भी मार पड़ेगी...।

उसे याद आया कि कैसे मेलों और नुमाइशों में वह निशाना लगाकर बदून्क से गुब्बारे फोड़ता रहा है। शुरू में उससे एक भी गुब्बारा नहीं फूटता था और सारे के सारे पैसे बेकार चले जाते थे। लोग हँसते थे। एक बार उसके साथ भाई साहब थे। पिता की उपस्थिति में तो वह गुब्बारे फोड़ने की हिम्मत तक नहीं कर सकता था। भाई साहब ने दनादन न केवल सारे गुब्बारे फोड़ डाले, बल्कि गुब्बारों के आगे लटकी प्लास्टिक की चिड़िया को भी निशाना लगाकर नीचे गिरा दिया। वह आश्चर्य से भर गया। भाई साहब ने उसे सटीक निशाना सिखाया और पहली ही कोशिश में उसने सचमुच एक गुब्बारा फोड़ दिया। उस दिन उसे बहुत खुशी हुई थी और वह भाई साहब को अपना आदर्श मानने लगा था। भाई साहब ने बताया कि यह तो एक खिलौना-गन है। असली मजा तो रिवॉल्वर चलाने में है जिसमें कम से कम छह कारतूस भरे रहते हैं। पिस्तौल में तो हर बार नया कारतूस भरना पड़ता है। रिवॉल्वर कहीं महँगी है।

भाई साहब ने एनसीसी प्रशिक्षण में राइफल भी चलायी थी। कन्धे पर कॉलर बोन के नीचे थ्री नाट थ्री की बन्दूक लगाकर जब वे दूर का निशाना साधकर ट्रिगर दबाते थे तो एक हल्का-सा झटका लगता था, लेकिन लक्ष्य बिंध जाता था। उन्होंने बताया था कि उन्होंने कभी किसी आदमी को तो क्या, जानवर और पक्षी तक को नहीं मारा। वे कहते थे कि हम वर्ग-शत्रुओं को डराने और उनसे अपनी हिफाजत के लिए ही ये हथियार रखते हैं। वे बताते थे कि गोली चलने पर बड़ी जोर की आवाज होती है। भाई साहब कहते थे कि पिस्तौल से हमारे अन्दर ताकत आ जाती है और कोई कितना ही बड़ा टुन्ने खाँ हो, हमें डर नहीं लगता। भाई साहब को उस दादा के अलावा उसके बाप से भी खुन्नस थी, जिसकी सरकारी राशन की भी एक दुकान थी और जो राशन का सामान कम तौलता था। एक बार वह भाई साहब के साथ राशन की चीनी लेने गया था। भाई साहब ने देखा था कि वह खुलेआम डंडी मार रहा है। भाई साहब ने टोका तो वह गाली बकने लगा। भाई साहब ने कहा,

आईसेक्ट पब्लिकेशन

मगर शेक्सपियर को याद रखना
कहानी-संग्रह
संतोष चौबे
मूल्य 250 रु.

संतोष चौबे समकालीन हिन्दी कथा-जगत के ऐसे विरले नागरिक हैं, जिनके पास विषय और शिल्प के वैविध्य के साथ, भाषा के अवचेतन में छुपे सत्य को कलात्मक दक्षता के साथ अपनी कहानी में उत्कीर्ण करने का प्रामाणिक कौशल है। सारे यथार्थ मानव-कल्पना से छोटे हैं और कल्पना के अधिकारों को संतोष चौबे का कथाकार छीनता नहीं, बल्कि उसे वित्तोंशटाइन की शब्दावलि में 'मौज में पूर्ण अवकाश और आकाश' भी देता है। 'कथा-लोक' की आकाशगंगा में, संतोष चौबे की उपस्थिति उस नये उपग्रह की-सी है, जो अभी और-और स्पेस की खाक छानता हुआ, नयी छवियों को निरन्तर भेजते रहने वाला है। यह कथा-संग्रह, उत्तर-आधुनिक नहीं, उत्तर-मानव के मन का एमआरआई है, जो लेखक की गहरी आत्म-सजग भाषा में, सच को निर्भीकता के साथ दिखाता है।

-प्रभु जोशी

तुम गरीबों को लूट रहे हो। एक दिन मैं तुम्हें देख लूँगा। तुम्हारा इलाज मैं ही करूँगा। तब भाई साहब, राकेश की तरह स्कूल में पढ़ते थे। शायद बेरोजगारी और हताशा में वे बाद में कम्युनिस्टों से जुड़ गये थे। कहते थे, क्रान्ति होगी। एक दिन मजदूरों-किसानों का राज आएगा। जब वे ऐसा कहते तो उनके माँ-बाप चिन्तित हो जाते। तब वे राकेश के पिता से सलाह-मशविरा करते। राकेश के पिता कहते, तुम चिन्ता मत करो। खाली दिमाग शैतान का घर होता है। नौकरी मिल जाएगी तो क्रान्ति धरी रह जाएगी।

बड़िया स्टेशन पर काफी देर हो गयी थी पर ट्रेन नहीं आ रही थी। अँधेरा पूरी तरह फैल चुका था। टिकट बाबू और खलासी लालटेन की टिमटिम रोशनी में उस छोटे से स्टेशन के अन्दर बैठे थे। उसे थोड़ा डर-सा लगने लगा और घर समय पर पहुँचने की चिन्ता सताने लगी। पिस्तौल का होना उसे कहीं हिम्मत और विश्वास से भी भर रहा था। उसने उस झोले में से शनील की थैली बाहर निकाल ली। फिर अनजाने ही उस थैली को खोल लिया और पिस्तौल को हाथ में ले लिया, मानो कोई अचानक हमला करने वाला प्रगट हो गया है। उसे लगा कि अब कोई उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेगा। पिस्तौल को देखकर ही हमलावर भाग जाएगा। फिर उसे भाई साहब और सन्तोख सिंह की हिदायतों का ध्यान आया। वह सोचने लगा कि किसी ने हाथ में पिस्तौल देख ली तो पता नहीं वह क्या समझेगा! उसने झट पिस्तौल को वापस झोले में रख लिया।

थोड़ी देर में ट्रेन आ गयी। ट्रेन में भीड़ नहीं थी। डिब्बे में कुछ मजदूर तथा जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाने वाले लकड़हारे, बहेलिये और दिन-भर छोटी-मोटी नौकरी कर घर लौट रहे लोग बैठे थे। लकड़हारों ने डिब्बे में लकड़ियों के गठ्ठर रखे हुए थे। वह ट्रेन में चढ़ा तो दो गठ्ठरों में उलझकर गिर गया। अपने स्वभाव के विपरीत वह लकड़हारों को डाँटने लगा। लकड़हारे अपनी बातों में लगे रहे और बीड़ी फूँकते रहे। नजीबाबाद स्टेशन पर उतरकर वह तेज-तेज कदमों से चलने लगा। स्टेशन पर भीड़ थी और तेज चलना मुश्किल हो रहा था। उसे खुशी थी कि उसने भाई साहब का काम आखिर पूरा कर लिया है। वह जल्दी से जल्दी उनके पास पहुँचकर उनकी शाबासी लने चाहता था। चौकन्नापन अब भी उसमें था। निश्चिन्तता अब कहीं अधिक थी। अब न वह बायें देख रहा था न दायें। न ही वह यह कोशिश कर रहा था कि कोई उसे देख तो नहीं रहा है या कोई उसका पीछा ता नहीं कर रहा!

भाई साहब सचमुच खुश हो गये। वे बड़ी बेताबी में उसी

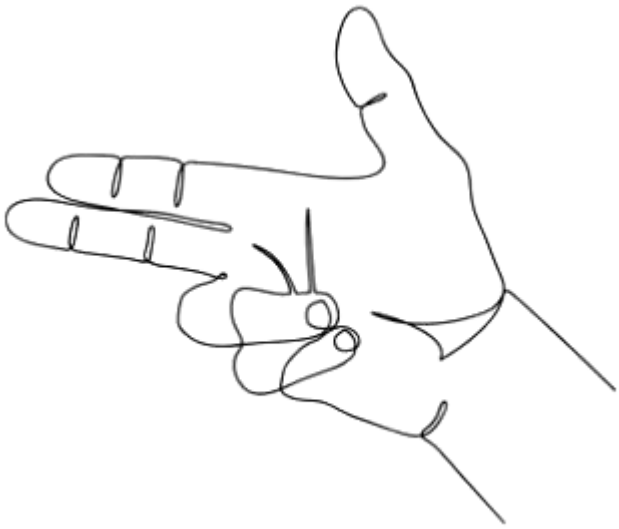

भाई साहब ने एनसीसी प्रशिक्षण में राइफल भी चलायी थी। कन्धे पर कॉलर बोन के नीचे थ्री नाट थ्री की बन्दूक लगाकर जब वे दूर का निशाना साधकर ट्रिगर दबाते थे तो एक हल्का-सा झटका लगता था, लेकिन लक्ष्य बिंध जाता था। उन्होंने बताया था कि उन्होंने कभी किसी आदमी को तो क्या, जानवर और पक्षी तक को नहीं मारा। वे कहते थे कि हम वर्ग-शत्रुओं को डराने और उनसे अपनी हिफाजत के लिए ही ये हथियार रखते हैं।

का इन्तजार कर रहे थे।

उन्होंने थैला हाथ में लिया और फिर इधर-उधर देखकर कत्थई थैली को खोले और पूछा, ''राकेश, तू भी देखेगा?''

''हाँ भाईसाहब!'' राकेश ने कहा।

भाईसाहब ने पिस्तौल बाहर निकाल ली। उनकी आँखें चमक उठीं, जैसे उन्हें दधीचि की हड्डियों से बना वज्र मिल गया हो! बड़ा सँभाल कर वह उसे देखने लगे। फिर उन्होंने बाहर के बन्द दरवाजे की तरफ पिस्तौल तानकर अपने ट्रिगर पर हाथ रखा और बोले, ''यह लॉक है।'' राकेश को फिर लगा कि दादा बीसियों आदमियों के साथ भाई साहब के चबूतरे पर चढ़ आया है और भाई साहब पिस्तौल ताने खड़े हैं। ...दादा गालियाँ बक रहा है और उसके लोग हमला करने वाले हैं। भाई साहब उत्तेजित हैं और अन्धाधुन्ध फायरिंग कर रहे हैं। दो-तीन लाशें गिर गयी हैं और दादा के लोग भाग खड़े हुए हैं...।

भाई साहब झटपट कमरे की अलमारी में किताबों के पीछे पिस्तौल के लिए जगह बनाने लगे। वे बहुत जल्दी में थे और एक-एक किताब को आगे सरकाने की बजाय दोनों हाथों से पाँच-पाँच, दस-दस किताबों को एक साथ आगे खिसकाने लगे। पिस्तौल उनके हाथ में थी। अचानक सन्तुलन गड़बड़ा गया और किताबें दनादन मेज पर गिरने लगीं। फिर एक बहुत

जोर का धमाका हुआ और राकेश को लगा कि उसके गोली लग गयी है। वह चिल्लाने लगा। भाई साहब भी बेहद डर गये थे। गोली सामने दीवार में घँस गयी थी।

आसपास के लोग घरों के बाहर निकल आये थे और भाई साहब की बैठक के बाहर जमा हो गये थे। भाई साहब कह रहे थे कि कुछ नहीं है, एयरगन से जरा फायरिंग करके राकेश को दिखा रहा था। उधर घाघ नजरों वाले राकेश के पिता को भी पूरी कहानी मालूम हो चुकी थी। उन्हें भाई साहब के पिता ने झट बुलवा लिया था। वे दोनों को सही-सलामत देखकर पहले तो चुप रहे, बाद में वे बोले, ''जोगिन्दर, यह अभी वापस करने चला जा। आज तो रब ने बचा लिया। ऐसी खतरनाक चीज घर में रखना पाप है।'' मोहल्ले वालों से भी वह हाथ जोड़कर विनती करने लगे कि वे चुप रहें आरै अपने-अपने घर लाटै जाएँ।

फिर उन्होंने तैश में पूछा, ''जोगिन्दर, यह गन किसकी है और तुझे कैसे मिली? एयरगन-एयरगन का राग अलाप रहा है। वह है कहाँ?''

भाई साहब को कुछ नहीं सूझ रहा था। उन्होंने कहा कि यह 'वर्ग-शत्रुओं' को डराने के लिए हमारे कामरेड गाँव-देहातों में रखते हैं। इसी की ताकत से क्रान्ति होती है, जैसे कि चीन में हुई।

''वाह भाई वाह! क्रान्तिकारी बन रहा है। तू क्या नसकली (नक्सली) है?'' भाई साहब के पिता ने गुस्से में पूछा।

''नहीं जी, मैं तो सीपीएम में हूँ।'' भाई साहब ने कहा।

''सीपीएम तो लोकतन्त्र में विश्वास करती है। चुनाव में भाग लेती है। उसका तो प्रगट तौर पर हिंसा में विश्वास नहीं। बन्दूक बगैरह तो नक्सली रखते हैं।'' राकेश के पिता बीच में बोले।

''उसी सीपीएम की केरल में बनी पहली कम्युनिस्ट सरकार को कांग्रेस ने बिना किसी वाजिब कारण के गिरा दिया था। उस सरकार का क्या दोष था?'' भाई साहब भी तैश में आ गये थे।

''तो?'' राकेश के पिता को कुछ समझ नहीं आ रहा था। वे बेहद कुपित थे। उन्होंने पूछा, ''तो इसका मतलब यह है कि तू नक्सली हो जाएगा?''

''अगर तब हम हुए होते तो ऐसा न होने देते। इस मामले को देश-भर में उठाकर नेहरू की कांग्रेस सरकार की पोलें खोलते। मिट्टी पलीद हो जाती।'' भाई साहब कह रहे थे, ''जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं कोई पार्टी का कार्ड-होल्डर नहीं हूँ। मुझे कोई पैसे पार्टी से नहीं मिलते। कहीं भेजते हैं तो खर्चा-पानी दे देते हैं। वे सब सीधे-सादे किसान-मजदूर हैं, जिनका आज भी शोषण हो रहा है।'' भाई साहब उत्तेजित हो रहे थे।

''यह गन क्या उन्हीं किसानों और मजदूरों से तुम्हें मिली है?'' राकेश के पिता ने पूछा, ''सीपीएम में होते हुए भी तेरा नक्सलवाद की तरफ झुकाव दिखायी देता है। आज नहीं तो कल, तू भी नक्सली बनेगा और फिर सुरक्षा बलों द्वारा नकली मुठभेड़ में मार गिराया जाएगा। तू कम्युनिस्ट बना ही क्यों? एमएससी करके यही सब करना था? नौकरी क्यों नहीं करता? आज भी बाप से जेब खर्च लेता है।'' राकेश के पिता ने चेतावनी-सी दे दी, ''छोड़ दे यह खतरनाक विचारधारा बच्चे। न घर का रहेगा न घाट का।''

''अरे! अरे! क्या कह रहा है तू? मैं तो समझता था कि किसानों-मजदूरों की मदद करती है तेरी पार्टी। यह बन्दूक-शन्दूक कहाँ से आ गयी? जोगिन्दर, कुछ शरम कर।'' उनके पिता ने भी डरते-डरते कहा।

''वीर जी, तुम्हारे कामरेड साब एक दिन हम सबको मरवाएँगे। क्या इसलिए इतना पढ़ाया-लिखाया था आपने? मैं तो

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आलोचक के बयान

साक्षात्कार

धनंजय वर्मा

मूल्य 350 रु.

प्रख्यात आलोचक प्रोफेसर (डॉ.) धनंजय वर्मा अपने व्यापक अध्ययन और स्वतन्त्र विचार-चिन्तन, तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और तलस्पर्शी विश्लेषण, निर्भीक वक्तव्य और बेलाग साफगोई के लिए चर्चित और रुसवाई की हद तक विवादास्पद हैं।

उनके साक्षात्कारों, भेंटवार्ताओं, अन्तरंग बातचीत और सार्थक संवादों की एक पुस्तक 'आलोचक का अन्तरंग' पहले प्रकाशित और चर्चित हो चुकी है। आईसेक्ट पब्लिकेशन अब प्रस्तुत करता है वर्ष 2005 से लेकर 2019 तक उनके इक्कीस साक्षात्कारों, वार्ताओं और संवादों के साथ एक परिचर्चा का यह संकलन– 'आलोचक के बयान'।

कहता हूँ कि जो भी नौकरी इसे मिले, कर ले। कम से कम खुराफात से तो दूर रहेगा!'' राकेश के पिता ने कहा।

''नौकरी कहाँ मिलती है? क्या क्लर्क की नौकरी कर लूँ या चपरासी की आपके जनसंघी के स्कूल में? लगता है कि आप चाहते हैं कि मैं आरएसएस में काम करूँ? नमस्ते सदा वत्सले मातृ-भूमि! ऐसे राष्ट्र की कल्पना, जिसमें सिर्फ हिन्दू ही हिन्दू हों, दूसरे धर्मों के खिलाफ नफरत से भरे हुए।'' जोगिन्दर भाई साहब ने जोर से कहा।

''अरे, देश के निर्माण का तो वही रास्ता है। तुम्हारा हिंसा का रास्ता तो खतरनाक है। गाँधी जी ने बिना खडग बिना ढाल आजादी दिलायी थी।'' राकेश के पिता बोले।

''गाँधी का तो आप नाम भी मत लो। आप तो आजादी के आन्दोलन में कांग्रेस के साथ कहीं नहीं थे।''

''और आपकी कम्युनिस्ट पार्टी तो कांग्रसियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ी थी?'' राकेश के पिता बोले।

''बहस मतकर जोगिन्दर। नौकरी ढूँढ़। यह राजनीति हमारे किसी काम की नहीं। सँभल जा। मैं कितणे दिनों का मेहमान हूँ। दो बहनें है तेरे। उनकी शाद्दी का जिम्मा भी हम पर है।'' उनके पिता जी ने याचना करते हुए कहा तो जोगिन्दर भाई साहब पैर पटकते हुए घर के अन्दर जाने लगे। राकेश उनके पीछे-पीछे। यह देखकर उसके पिता आग-बबूले हो गये।

''राकेश, आ इधर, घर चलें।'' यह उसके पिता की डाँटती हुई आवाज थी। राकेश भीगी बिल्ली बना उनके पीछे-पीछे चलने लगा। उसे लगा कि वह भी कहीं न कहीं अपराधी है। उसे पिस्तौल लेने नहीं जाना चाहिए था। आज उसकी मौत भी हो सकती थी। ऐसी चीज को घर में क्या रखना, जो अचानक लौटकर वार कर दे।

कुछ समय बाद मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी भाई साहब से जवाब-तलब किया। पार्टी की बदनामी हो रही थी। भाई साहब को कामरेडों ने बहुत लताड़ा कि अपने पर्सनल काम के लिए उन्होंने पिस्तौल क्यों हासिल की? वे क्या बोलते? कुछ माह बाद दिल्ली में नौकरी मिलने के बाद भाई साहब भी बदलने लगे। नक्सलियों के वीभत्स कारनामे देखकर उनका माओवाद से पहले ही मोहभंग होने लगा था। दूसरी तरफ मार्क्सवादी पार्टी के उनके दोस्तों ने उन्हें जितना जलील किया, उससे वे अन्दर ही अन्दर असुरक्षित महसूस करने लगे। उन्होंने पूछा, ''जोगिन्दर, तुम राकेश को हर जगह अपने साथ क्यों ले जाते हो! उसके पिता संघी हैं और चुनाव में वह जनसंघ का बिल्ला लगाकर घर-घर वोट माँगने जाता रहा है। वह अब बच्चा नहीं रह गया है। तुमने क्या सोचकर उसे सन्तोख सिंह के गाँव पिस्तौल लेने भेजा था। तुमने हमारे शुभचिन्तक सन्तोख सिंह का नाम अपनी बेवकूफी में एक्सपोज कर दिया। यह काम 'वर्ग शत्रुओं' का होता है। पुलिस कई बार उन्हें पूछताछ के लिए बुला चुकी है। घर की भी तलाशी लेने पहुँच गयी। हम उस पिस्तौल को पहले ही गायब कर चुके थे। इसलिए पुलिस को कुछ नहीं मिला। पुलिस पैसा माँगती है तो वह हमारा नाम लेकर कहता है कि कामरडे ही देंगे। बेचारे को धमकियाँ सहनी पड़ती हैं। इससे भी बड़ी मूर्खता तुमने राकेश को सहानपुर में हमारी सभा में पोलिट ब्यूरो के एक सदस्य के आने की खबर देकर की थी। यह पार्टी की अपनी मीटिंग थी, कोई पब्लिक मीटिंग नहीं थी। उसके पिता हमारे वर्ग शत्रु हैं और तुम उनसे मिल गये हो। इसलिए पार्टी तुम्हे दंडित भी कर सकती है।''

भाई साहब को यकीन होने लगा कि मेरे ही साथी मेरा एनकाउंटर करा सकते हैं, हाँलाकि मैं कभी भी नक्सलवादी नहीं रहा। सिर्फ माओ की किताब ही तो पढ़ी थी जैसी कि इन कामरेडों ने भी सीपीआई (एम) में रहते, पढ़ी थी। मुझसे पढ़ाई में हमेशा पीछे रहने वाले क्या मेरे ज्ञान से ज्यादा ज्ञान रखते हैं? जलते हैं साले! इसलिए पार्टी का कार्ड होल्डर तक नहीं बनाया। मैंने कोई पार्टी विरोधी काम नहीं किया। बस कामरेड रामकृपाल तो ठीक हैं। पढ़े-लिखे हैं। पार्टी के प्रति समर्पित हैं। पर उनके ये चमचे भूपेन्दर, महेन्दर, मास्टर अमीचन्द, इरशाद सिर्फ अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।

पता नहीं दिल्ली जाकर उन्होंने कैसे काँटा फिट किया कि अमेरिका में आगे पढ़ने का मौका मिल गया। वे उसे सचमुच सपनों का देश मानने लगे। जब भी वे भारत आते, राकेश उनसे अमेरिका ले चलने की विनती करता। वे हँसते रहते और अपनी कारों, गनों और शराब की भिन्न-भिन्न किस्मों के अपने संग्रह का उल्लेख करते। कहते, राकेश अगर मैं यहाँ से नहीं जाता तो पार्टी के लोग 'वर्ग शत्रु' का आरोप मढ़कर मुझे ही मार सकते थे, हालाँकि मैं कार्ड होल्डर भी नहीं बन पाया था। कहते, राकेश अमेरिका में मेरे पास तीन-तीन गन हैं। पूरा ऐशो-आराम। वहाँ मैं कहीं ज्यादा सुरक्षित हूँ। तू कभी आया ता तुझे अपनी गनें दिखाऊँगा।

विला नं. 38, बिर्च कोर्ट, निर्वाणा कंट्री, सेक्टर-50
गुड़गाँव-122001 (हरियाणा)
मो. 9810012277

देशकाल

लखनऊ में आयोजित हुआ विजय नरेश स्मृति कथा-पाठ

ममता कालिया, मुकेश वर्मा और हरि भटनागर ने किया कहानी-पाठ

22 जून को लखनऊ के कैफी आजमी एकेडेमी सभागार में विजय नरेश स्मृति कथा-पाठ का आयोजन किया गया। कथा पाठ की अध्यक्षता शिवमूर्ति ने की और मुख्य वक्ता थे प्रोफेसर नलिन रंजन सिंह। कथा-पाठ ममता कालिया, मुकेश वर्मा और हरि भटनागर ने किया। संचालन नरेश सक्सेना ने किया। हरि भटनागर ने 'सेवड़ी रोटियाँ और जले आलू', मुकेश वर्मा ने 'गोमती' और ममता कालिया ने 'आलमारी' का पाठ किया जिन पर मुख्य वक्ता नलिन रंजन सिंह ने अलग-अलग टिप्पणियाँ कीं। कार्यक्रम के अध्यक्ष शिवमूर्ति ने तीनों कथाकारों की कहानियों को महत्त्वपूर्ण बताया। उन्होंने कहा कि हरि भटनागर की कहानी 'सेवड़ी रोटियाँ और जले आलू' गरीबी और अभाव की जिन्दगी का दस्तावेज है। मुकेश वर्मा की कहानी 'गोमती' कहानी पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि 'गोमती' में वर्णित स्त्री-मन की मनोदशा और भाषा के वैभव के क्या कहने! इस कहानी के संवाद इसकी चमक को कई गुना बढ़ा देते हैं। ममता कालिया के बारे में उन्होंने कहा कि ममता कालिया हैं ही सिद्धहस्त किस्सागो। आलमारी के जाने से पैदा हुए शून्य को बहुत ही कुशलता से बयान किया है ममता कालिया ने। अन्त में शिवमूर्ति ने प्रोफेसर नलिन रंजन के विचारशील वक्तव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि नलिन के पास एक क्रिटिकल आई है जो चीजों को एनालिटिकल ढंग से प्रस्तुत करने सक्षम है। कथा पाठ से पूर्व विजय नरेश स्मृति कथा पाठ का संचालन कर रहे नरेश सक्सेना ने स्मृतिशेष विजय नरेश के रचनात्मक अवदान को याद करते हुए आमन्त्रित रचनाकारों का परिचय देते हुए, पौधे भेंट करवाकर स्वागत कराया। साथ ही सभागार में पधारे सभी विद्वजनों-श्रोताओं का स्वागत करते हुए सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया। इस अवसर पर शैलेन्द्र सागर, रूप रेखा वर्मा, नदीम हसनैन, अरुण सिंह, सदफ जफर, दीपक कबीर, अलका पांडे, रमेश दीक्षित, कात्यायनी, वन्दना मिश्र, कुमकुम धर, राजीव शुक्ला, अनीता श्रीवास्तव, पूर्वा नरेश, सुशीला पुरी, नाइश हसन, विनय साहिब, आशीष सिंह, अनिल त्रिपाठी, विनय मिश्रा, भारतेन्दु आदि उपस्थित थे।

संजीव हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं– नरेश सक्सेना

कथाकार संजीव का अमृत महोत्सव लखनऊ में

हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार संजीव के पचहत्तरवें वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर पश्चिम बंगाल के आसनसोल से जिस संजीव अमृत महोत्सव की शुरुआत हुई, उसका पाँचवा चरण लखनऊ के ऑल इंडिया कैफी आजमी अकेडमी में इंडिया इनसाइड राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिका एवं संजीव अमृत महोत्सव समिति के तत्त्वाधान में सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम में संजीव का सम्मान और उन पर 'हिन्दी कथा साहित्य में संजीव की उपस्थिति' विषय पर विभिन्न विद्वानों-साहित्यकारों ने वक्ता के तौर अपने विचार रखें। कार्यक्रम की अध्यक्षता नरेश सक्सेना ने की तो मंच का संचालन ज्ञानप्रकाश चौबे ने की। अतिथियों का स्वागत करते हुए अरुण सिंह ने किया। इस कार्यक्रम के विभिन्न सत्रों में शिवमूर्ति, अखिलेश, नाइश हसन, सुभाषचन्द्र कुशवाहा, शैलेन्द्र सागर, नलिन रंजन सिंह आदि ने संजीव की कहानियों पर आत्मीय ढंग से बातें कीं। अध्यक्षीय वक्तव्य में नरेश सक्सेना ने कहा कि संजीव जैसा लेखक हिन्दी ही नहीं, संसार की किसी भी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार है। 'सहयोग' पत्रिका के प्रधान सम्पादक शिवकुमार यादव के धन्यवाद ज्ञापन के साथ कार्यक्रम की समाप्ति हुई।

मैत्रेयी पुष्पा, संजीव आदि स्पन्दन सम्मान से सम्मानित

ललित कलाओं के लिए समर्पित 'स्पन्दन' संस्था भोपाल की ओर से हिन्दी साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं के क्षेत्र में योगदान करने वाले महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों एवं कलाकारों के लिए अखिल भारतीय स्तर पर कई सम्मान स्थापित किये गये हैं। संस्था द्वारा साहित्य और कला की कई विधाओं के लिए स्थापित आठ सम्मानों में 'स्पन्दन कथा शिखर सम्मान' के लिए इकतीस हजार रुपए। 'स्पन्दन युवा पुरस्कार' के लिए इक्यावन सौ रुपए तथा शेष सम्मानों के लिए ग्यारह हजार रुपये की राशि तथा श्रीफल भेंट किया जाता है। संस्था की संयोजक उर्मिला शिरीष ने वर्ष 2021 तथा 2022 के लिए 'स्पन्दन' सम्मानों की संयुक्त रूप से घोषणा की जिसके अनुसार कथा शिखर सम्मान सुप्रसिद्ध लेखिका मैत्रेयी पुष्पा एवं सुप्रसिद्ध लेखक संजीव को दिया जाएगा। 'स्पन्दन आलोचना सम्मान' से सत्यकेतु सांकृत तथा नीरज खरे, 'स्पन्दन कृति सम्मान-उपन्यास' से शरद सिंह (शिखंडी) तथा मनीषा कुलश्रेष्ठ (मल्लिका) के लिए सम्मानित होंगी। 'स्पन्दन कृति सम्मान-कहानी' के लिए रजनी गुप्त (सतह पर चाँद) तथा कविता (क से कहानी घ से घर) के लिए सम्मानित होंगी। 'स्पन्दन कृति सम्मान-कविता' के लिए मणिमोहन (भेड़ियो ने कहा शुभरात्रि) तथा अम्बर पांडेय (कोलाहल की कविता) के लिए सम्मानित होंगे। 'स्पन्दन साहित्यिक पत्रिका सम्मान' हरिनारायण द्वारा सम्पादित पत्रिका 'कथादेश' तथा अनामिका शिव द्वारा सम्पादित 'किस्सा' को दिया जाएगा। 'स्पन्दन ललित कला सम्मान' से योगेश त्रिपाठी (नाट्यलेखन) तथा गोकर्ण सिंह (पेंटिंग) और 'स्पन्दन युवा सम्मान' संगीता गोस्वामी (गायन) तथा सिद्धान्त गुन्देचा (तबला वादन) के लिए सम्मानित होंगे।

भोपाल में किताबों का उत्सव

राजकमल प्रकाशन के 75वें स्थापना वर्ष को मनाया गया किताब-उत्सव के रूप में

'किताब-उत्सव' के एक बातचीत-सत्र में
(बायें से) बलराम गुमास्ता, संतोष चौबे, मुकेश वर्मा और कुणाल सिंह

राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली ने अपने 75वें स्थापना दिवस को भोपाल में 'किताब-उत्सव' के रूप में मनाया। सप्ताह-भर से ज्यादा चले इस उत्सव में न सिर्फ पुस्तकों की प्रदर्शनी की गयी, बल्कि रोजाना कई सत्रों में साहित्यिक विचार-विमर्श किये गये। इसके अतिरिक्त शरद जोशी, दुष्यन्त कुमार, प्रभाष जोशी, चन्द्रकान्त देवताले, भगवत रावत, मंजूर एहतेशाम आदि भोपाल के दिवंगत रचनाकारों का कृतित्व-स्मरण भी किया गया। विभिन्न सत्रों में भोपाल एवं भोपाल से बाहर के रचनाकारों में रमेशचन्द्र शाह, गोविन्द मिश्र, कैलाशचन्द्र पन्त, विजय बहादुर सिंह, शशांक, संतोष चौबे, राजेश जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी, पुरुषोत्तम अग्रवाल, रामप्रकाश त्रिपाठी, विजयदत्त श्रीधर, कुमार अम्बुज, अजित वडनेकर, बलराम गुमास्ता, मुकेश वर्मा, आशीष त्रिपाठी, उदयन वाजपेयी, शम्पा शाह, उर्मिला शिरीष, अखिलेश, मदन सोनी, सविता भार्गव, प्रेमशंकर शुक्ल, नीलेश रघुवंशी, सुधीररंजन सिंह, जयजीत अकलेचा, रेखा कस्तवार, मलय जैन, अजय सोडानी, कुणाल सिंह, मनोजकुमार पांडेय, चन्दन पांडेय, प्रज्ञा रावत, हेमन्त देवलेकर, गीत चतुर्वेदी, रक्षा दुबे चौबे, पल्लवी त्रिवेदी, श्रुति कुशवाहा, अनिल करमेले, असंगघोष, आरती, कैलाश वानखेड़े, पंकज सुबीर, प्रतिभा, ऋतु पल्लवी, सन्ध्या कुलकर्णी, साधना बलवटे, विजी श्रीवास्तव, अरुणाभ सौरभ, अरुणेश शुक्ल, वसन्त सकरगाए, मुदित श्रीवास्तव आदि ने रचनात्मक सहयोग दिया।

–

रामदरश मिश्र को सरस्वती सम्मान

के.के. बिरला फाउंडेशन ने 'मैं तो यहाँ हूँ' के लिए नवाजा

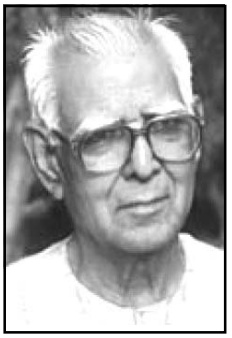

केके बिरला फाउंडेशन ने साल 2021 का सरस्वती सम्मान डॉ. रामदरश मिश्र को प्रदान किया। साल 2015 में प्रकाशित उनके प्रसिद्ध कविता संग्रह 'मैं तो यहाँ हूँ' के लिए उन्हें यह सम्मान दिया गया। मंडी हाउस पर स्थित रवीन्द्र भवन के साहित्य अकादमी सभागार में आयोजित समारोह में डॉ. रामदरश मिश्र के अलावा केके बिरला फाउंडेशन की अध्यक्ष शोभना भरतिया, निदेशक सुरेश ऋतुपर्ण, चयन परिषद के अध्यक्ष सुभाष कश्यप उपस्थित रहे। डॉ. मिश्र को अब तक साहित्य अकादमी पुरस्कार, व्यास सम्मान सहित अनेक महत्त्वपूर्ण पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए प्रो. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने की। इस अवसर पर प्रो. रामदरश मिश्र ने कहा कि इस समय में अपने गाँव को याद कर रहा हूँ। उन्होंने अपने रचना संग्रह से कुछ कविता भी सुनाए। केके बिरला फाउंडेशन के निदेशक सुरेश ऋतुपर्ण ने सरस्वती पुरस्कार की चयन प्रक्रिया के बारे में विस्तार से बताया। उन्होंने बताया कि प्रो. रामदरश मिश्र को चयन की कठिन प्रक्रिया से गुजरकर सरस्वती सम्मान के लिए उनका चुनाव किया गया।

जितेन्द्र रघुवंशी को पुश्किन सम्मान

साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय अवदान के लिए स्व. जितेन्द्र रघुवंशी को प्रतिष्ठित पुश्किन सम्मान 2021 से सम्मानित किया गया। रूसी भाषाविद्, साहित्य, अनुवाद, शोध, शिक्षण सामग्री निर्माण के लिए उन्हें यह पुरस्कार दिया गया है। उनकी पत्नी भावना जितेन्द्र रघुवंशी ने रशियन एम्बेसी, दिल्ली में आयोजित समारोह में यह पुरस्कार ग्रहण किया। जितेन्द्र रघुवंशी ने दो दर्जन से अधिक शोध आलेख, रूसी पाठ्य-पुस्तक निर्माण, कोष निर्माण और शोध निर्देशन भी किया। स्व. रघुवंशी तीन दशक तक रंगमंच से जुड़े रहे। भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) के महासचिव रहते हुए उन्होंने कई नाटक भी लिखे।

डॉ. संजीव कुमार की सौवीं पुस्तक के प्रकाशन पर अभिनन्दन

इंडिया नेटबुक्स प्रा.लि. के निदेशक, कवि व समाजसेवी अब तक सौ पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें 14 प्रबन्ध काव्य, 52 काव्य संग्रह, 7 बाल साहित्य की पुस्तकें, 5 आलोचना ग्रंथ, 14 लोक कथाओं की पुस्तकें व 5 पुस्तकें अँग्रेजी भाषा में लिखी हैं। इसके अलावा भी कानून सम्बधी 36 पुस्तकें लिख चुके हैं। वर्ष 2016 से लेकर अबतक, विभिन्न संस्थानों द्वारा 26 सम्मानों से इन्हें नवाजा जा चुका है। साहित्यिक संस्थाओं ने गत 16 जुलाई को, दिल्ली के क्राउन प्लाजा होटल में, उनकी 100 पुस्तकों के प्रकाशन पर उनका अभिनन्दन किया, जिसमें व्यंग्य यात्रा, स्पन्दन (संस्था), 21वीं शताब्दी के साहित्यकार, अनुस्वार अन्तरराष्ट्रीय मंच, भारत दर्शन (न्यूजीलैंड), वातायन (यूके), सिंगापुर संगम एवं छत्तीसगढ़ मित्र जैसी संस्थाएँ शामिल थीं।

इस कार्यक्रम में देश के कई राज्यों से साहित्यकार पहुँचे और देश-विदेश में जूम पर कार्यक्रम देखा गया। कार्यक्रम का संचालन चर्चित युवा कवि और व्यंग्यकार डॉ. लालित्य ललित एवं प्रो. राजेश कुमार ने किया। उनकी सौवीं पुस्तक 'आज की मधुशाला' के बहाने देश के कोने-कोने से आए लेखकों ने उनको अपनी अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ दीं। संजीव कुमार ने भी बड़ी विनम्रता के साथ सबके आभार को स्वीकार किया। इस अवसर पर चित्रा मुद्गल, ममता कालिया, राहुल देव, प्रेम जनमेजय, प्रताप सहगल, सुभाष चन्दर, डॉ. संजय द्विवेदी, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, बलराम अग्रवाल, रणविजय राव, राकेश पांडेय, नारायण कुमार, नीरज मित्तल, दीपा गुप्ता, विनोद पराशर, फारूक आफरीदी, हरीश पाठक, गिरीश पंकज, श्याम सखा श्याम, कमलेश भारतीय, हरिप्रकाश राठी, सौम्या दुआ आदि अनेक लेखक उपस्थित थे। 'व्यंग्य यात्रा' की ओर से प्रेम जनमेजय एवं अन्य उपस्थित साहित्यकारों ने संजीव कुमार का अभिनन्दन किया। सभी ने उनके साहित्यिक और प्रकाशकीय योगदान पर प्रकाश डाला। इंडिया नेटबुक्स की संचालक डॉ. मनोरमा एवं कामिनी ने उपस्थित लेखको को सम्मानस्वरूप शाल, स्मृति चिह्न और पुस्तकें भेंट की।

शेखर जोशी और प्रतिभा राय को आकाशदीप सम्मान

सुधीर चन्द्र, चन्दन पांडेय, पूनम वासम, अणुशक्ति सिंह और आशुतोष गर्ग को श्रेष्ठ कृति सम्मान

अमर उजाला शब्द सम्मान 2022 की घोषणा

लेखन और जीवन के समस्त अवदान के लिए इस वर्ष अमर उजाला का सर्वोच्च शब्द सम्मान 'आकाशदीप' हिन्दी में प्रख्यात कथाकार शेखर जोशी और हिन्दीतर भाषाओं में उड़िया की विख्यात रचनाकार प्रतिभा राय को दिया जाएगा। सर्वोच्च 'आकाशदीप' अलंकरण में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा के एक-एक साहित्य मनीषी को अर्पित किया जाता है। अलंकरण में पाँच-पाँच लाख रुपये की राशि, प्रशस्ति-पत्र और प्रतीक-चिह्न भेंट किया जाता है। इस क्रम में अब तक हिन्दी के लिए विश्वनाथ त्रिपाठी, ज्ञानरंजन तथा नामवर सिंह को और हिन्दीतर भाषाओं के लिए गिरीश कारनाड (कन्नड़), भालचन्द्र नेमाड़े (मराठी) तथा शंख घोष (बांग्ला) को सर्वोच्च सम्मान दिया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ कृति सम्मानों की भी सूची जारी की गयी। कोरोना की परिस्थितियों के चलते संयुक्त वर्ष 2020-21 में प्रकाशित श्रेष्ठ हिन्दी कृतियों को विचारार्थ लिया गया था। इन सम्मानों में एक-एक लाख रुपये, प्रशस्ति-पत्र और प्रतीक चिह्न भेंट किया जाता है। कविता वर्ग में पूनम वासम, कथेतर वर्ग में सुधीर चन्द्र, कथा वर्ग में चन्दन पांडेय को यह सम्मान प्रदान किया जाएगा। किसी रचनाकार की प्रथम कृति के वर्ग के अन्तर्गत अणुशक्ति सिंह तथा भारतीय भाषाओं में अनुवाद वर्ग के अन्तर्गत आशुतोष गर्ग के नामों की घोषणा की गयी।

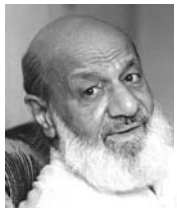

आईसेक्ट पब्लिकेशन की नयी पुस्तकों का लोकार्पण

आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल द्वारा प्रकाशित पुस्तकों– 'ऋण अभी शेष है' (राजेन्द्र शर्मा), 'ऋषिरेणु' (अशोक धर्मेनिया) और 'वो तीस घंटे' (गोकुल सोनी) के लोकार्पण एवं पुस्तक-चर्चा का आयोजन दुष्यन्त कुमार स्मारक पांडुलिपि संग्रहालय, भोपाल में किया गया। इस अवसर पर वरिष्ठ कवि-कथाकार एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति संतोष चौबे की अध्यक्षता एवं वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा तथा वरिष्ठ कवि बलराम गुमास्ता के सान्निध्य में पुस्तकों के लेखक राजेन्द्र शर्मा, अशोक धर्मेनिया व गोकुल सोनी ने अपनी रचनाओं का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन घनश्याम मैथिल 'अमृत' ने किया। आयोजन में रेखा कस्तवार, रामवल्लभ आचार्य, राजुरकर राज, जवाहर कर्नावट, चन्द्रभान राही, राजेन्द्र नागेदव, सुनील सेन, राजीव रघुवंशी, राहुल खंगार, बी.एम. सोनी समेत कई रचनाकार शामिल हुए।

प्रस्तुति : ज्योति रघुवंशी

अपने शहर-कस्बे की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की सचित्र (जेपीईजी फॉर्मेट में) रिपोर्टें प्रकाशनार्थ भेजें। ईमेल करें– vanmali@aisect.org, सब्जेक्ट में 'देशकाल के लिए' अवश्य लिखें।

अन्ततः

सत्कथा कही नहीं जाती

मुकेश वर्मा

अभी हाल में जो किसिम-किसिम के चुनाव हुए, सद्गुरु कहते हैं कि देश को फिर एक नयी राह मिली। हर स्थानीय चुनाव के बाद शहर को, विधानसभा चुनाव के बाद प्रदेश को और लोकसभा चुनाव के बाद देश को नयी राह मिलती आई है।

यह देश नयी राहों का शौकीन रहा है, लगभग एक लत की तरह। विगत इतने वर्षों में इतनी नयी राहें मिली हैं कि पूरा देश कंफ्यूज्ड हो गया है। इनमें कितनी नयी हैं, कितनी पुरानी हैं, कितनी तब के पुरखों की और कितनी अब पिंटु-पमपम के जमाने की, बताना मुश्किल है।

बहरहाल, इतना तय है कि हमें हर बार एक नयी राह पकड़ा दी जाती है और अच्छे बच्चों की तरह हम चलने लगते हैं। कुछ सिरफिरे बाजवक्त चिल्लाने लगते हैं कि ये तो पुरानी है, वही 1950-51 की, या 1974-75 की, या 1992-93 की, या 2014-15 की। लेकिन कोई फर्क नहीं पड़ता। नयी राह वह होती है जो किसी नये महानुभाव ने दिग्दर्शित की हो। यह तो राजनीति की लोकशैली है कि पुरानी भी नयी-सी चमकने लगती है क्योंकि नेतृत्व का श्रीमुख नया है। अभी हाल के चुनावों के बाद देश को फिर एक नयी चमकदार राह मिली है। फिर पुराना हमें याद कहाँ रहता है! जनता की याद्दाश्त कमजोर होती है। पुराना कचरा दिमाग में भरे रखेंगे तो विकास की नयी राह पर कैसे चल सकेंगे! जीवन चलने का नाम है। पुराने रास्तों पर चलने में मन नहीं लगता, ऊब होने लगती है और ऐसी ही मन:स्थितिय में नागरिक उपटा खाकर धराशायी हो जाते हैं। पुराने महापुरुष पुराने फैशन की तरह बाजार से बाहर हो गये। भला मीका सिंह, यो यो हनी सिंह के आगे कबीर, सूर, मीरा को कौन गायेगा! नये सन्तों के सम्मुख बुद्ध, महावीर का पता नहीं। गाँधी, अम्बेडकर, लोहिया चुप। नयी उमर की नयी फसल। नयी राह चलने में मजा आता है। सुनने-समझने में भला लगता है और दिलोदिमाग फूल की नाईं तरोताजा रहते हैं। नये की हर बात नये सिरे से नयी होती है जी! इस बार हमें फिर नयी राह दिखायी जा रही है। देश-भर के, हर तबके के हर बालक-वृद्ध-जवान-महिला-दलित-दमित-वंचित-अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक-छात्र-कलाकार-किसान-कारीगर-मजदूर-नौकरीपेशा-अन्यपेशा-पत्रकार-चित्रकार-साहित्यकार-बेकार-जेबकतरे-चोर-डाकू-व्यापारी-कबाड़ी-भिखारी आदि-इत्यादि चल पड़ने को उमड़ पड़े हैं। यह देश का नया चाल-चरित्र-चलन और चेहरा है। अब कुछ पगले कहते हैं कि रोडमैप तो है नहीं। कहाँ चलने को कहा जा रहा है। इस तरह तो भटक जायेंगे, अटक जायेंगे, लटक जायेंगे, पटक जायेंगे, सटक जायेंगे, चटक जायेंगे आदि-आदि बहुत सारे आदि। इस तरह के दुर्वचन मात्र विलाप, प्रलाप और सन्ताप के राजनैतिक गठबन्धन हैं जिन्हें चुनावों में मुँह की खानी पड़ी है और अब हताशा-निराशा-भग्नाशा में आँय-बाँय-साँय बके जा रहे हैं।

दरअसल हम सदियों से एक भारत भाग्य विधाता ढूँढ़ते आये हैं जो हमारी नैय्या पार लगा दे। वेदों से लेकर अपने राष्ट्रगीत में उसे ही प्रेमपूर्वक, आग्रहपूर्वक, आदरपूर्वक और हर प्रकार के पूर्वक के साथ घरे-बाहरे में प्राण-प्रतिष्ठित किया है। उसके लिए कितने जतन किये। नये नये भजन गाये। भाँति-भाँति से कीर्तन नृत्य किये। तीर्थस्थल बनाये। मूर्तियाँ गढ़ी। व्रत-उपवास रखे। नारे और जयकारे लगाये, सिर्फ इस कोशिश में कि किसी तरह वह पकड़ आये तो भाग्य के चौपट दरवाजे खुल जा सिम सिम कहते ही खुल जाएँ।

इस तरह अनास्था से भला कभी कहीं कोई देश चलता है! भरोसा करना पड़ता है। सद्गुरु कहते हैं कि एक भरोसे एक बल एक आस बिश्वास। सदियों से हम इन सत्वचनों पर चलते आये हैं। आज क्या मुकर जायेंगे! यह भी माना कि भरोसा बार-बार टूटा है, लेकिन टूटने से हम क्या बिखर जायेंगे! हमारी पाँच हजार साल पुरानी संस्कृति क्या इतनी कमजोर है कि किसी एक झटके में जर्जर हो जायेंगे! इतिहास गवाह है कि हम हरेक के साथ चले हैं। चाहे क्रूर हो या अक्रूर। एक पुराने शे'र को इस तरह नया करके कहना चाहिए–

'चलता हूँ थोड़ी दूर हर राहजन के साथ, पहिचानना नहीं है किसी राहबर को अब।'

चूँकि संसार मिथ्या है। माया का खेल है। ऐसे खेल में मजा आता है। छोटा-सा जीवन काटना है, अब चाहे रहबर मिले या रहजन, क्या फर्क पड़ता है! हमें पहिचानना नहीं है, पूजा करना है और ऐसी पूजा, फोकट वाली नहीं, वो जो मुफ्त का राशन-पानी का वरदान दे।

दरअसल हम सदियों से एक भारत भाग्य विधाता ढूँढ़ते आये हैं जो हमारी नैय्या पार लगा दे। वेदों से लेकर अपने राष्ट्रगीत में उसे ही प्रेमपूर्वक, आग्रहपूर्वक, आदरपूर्वक और हर प्रकार के पूर्वक के साथ घरे-बाहरे में प्राण-प्रतिष्ठित किया है। उसके लिए कितने जतन किये। नये नये भजन गाये। भाँति-भाँति से कीर्तन नृत्य किये। तीर्थस्थल बनाये। मूर्तियाँ गढ़ी। सोने चाँदी से लाद दिया। दिन-रात अगरबत्ती-लोबान सुँघाते रहे। फूलों के बोझ से गर्दन झुका दी। व्रत-उपवास रखे। नारे और जयकारे लगाये, सिर्फ इस कोशिश में कि किसी तरह वह पकड़ आये तो भाग्य के चौपट दरवाजे खुल जा सिम सिम कहते ही खुल जाएँ। कहते हैं कि वह छप्पर फाड़कर देता है इसलिए हमेशा छप्पर टूटा-फूटा ही रहने दिया। सुनते हैं कि वह पुकारने से आता है, इसलिए उसके नाम की ही चिल्लाचोट मचाते रहे। उसकी कृपा के लिए इतनी नदियों में कितनी बार सपरिवार नहाये कि जगह-जगह गन्दगी के ढेर खड़े हो गये। हजारों बार सैकड़ों इष्ट मित्रों के साथ हर प्रकार के पहाड़ पर चढ़े कि तमाम पहाड़ धसकने लगे। केवल इतनी-सी ही तो कामना रही कि बेटा को नौकरी मिल जाए, बेटी को वर, माँ को घर, पत्नी को गहने, खुद को तो कभी कुछ चाहिए नहीं, बस दुश्मन का मुँह काला हो, पड़ोसी का दीवाला हो और अपने मुख में निवाला हो।

अब इसके लिए तुम्हें वोट चाहिए, सो वो भी दिया। लोक दिया, तन्त्र लिया। लाज दी, समाज दिया। सभाओं में चाय-चर्चा की। चौराहों पर गर्मागर्म बहसें की। बहुविध चुटकुले सुने, बहुमुख किस्से कहे। पूजा की कुठरिया से लेकर इंटरनेट के किले तक में घुस गये। सिर्फ इस खातिर ही कि कोई हमारा हाथ पकड़कर सुख की बगिया में ले जाए। हमें कुछ ना करना पड़े और प्रभु पौ-बारह हो जाए। अब जो जैसी नयी राह चलाये, सपने दिखाये, कहीं ले जाए।

गीता में कहा है कि संशयात्मा विनश्यति। सो मरना थोड़े है! जीना है और अब किसी भी कीमत पर, चाहे इंसानियत के दर्जे से कितना भी नीचे उतरना पड़े। मर-मर कर मरना है। नयी राह पर चलना है, चाहे कितना ही क्यों ना भटकना पड़े। याद कीजिए कि कब से जयशंकर प्रसाद जी ने ठीक ही कह रखा था– ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे। अब महाकवि की बात झूठी ना होने देंगे। महापुरुष के वचनों में ही सद्गुरु के गुप्त-ज्ञान की कुंजी है। इन्हें व्यर्थ नहीं जाने देना है। यह महापाप है। पाप से बचो, पाप के कीड़ो।

अब यह मत कहने लगना कि कब? कहाँ? कैसे पहुँचेंगे! कब तक पहुँगे...! इन वाहियात बातों ने ही हमें पावन भारत से पतित भारत तक पहुँचा दिया। उठो और राष्ट्र पर बलि-बलि जाओ। यह त्याग और तपस्या का समय है। जब उन्हें तन, मन, धन, जीवन आदि-इत्यादि सब दे ही दिया है तो अपना बाकी समय भी दे दीजिए। वैसे भी आपके पास देने के लिए समय के अलावा बचा ही क्या है!

मो. 9425014166

उसने कहा था

यूकियो मिशिमा

सुन्दरता वह है जिसे छूने-भर से हाथ जल जाए।

●

चुप्पी जब लम्बे समय तक खिंच जाए, उसके मायने बदल जाते हैं।

●

एक कलाकार को सृजनशील बने रहने के लिए शारीरिक रूप से स्वस्थ और मानसिक रूप से बीमार होना चाहिए।

●

जहन्नुम की ये खूबी है कि वहाँ सबकुछ साफ-साफ, गोशा-गोशा और रेशा-रेशा दिखता है।

●

हम एक ऐसे समय में जीने को अभिशप्त हैं जिसमें किसी के नसीब में शानदार मौत नहीं लिखी।

●

जब एक शेर पिंजरे से बाहर निकलता है, वह जंगल में रहने वाले शेर की निस्बत ज्यादा बड़ी दुनिया में प्रवेश करता है। जब वह पिंजरे में था, उसके लिए बस दो दुनियाँ हुआ करती थीं– पिंजरे की दुनिया और पिंजरे से बाहर की दुनिया। अब वह आजाद है, दहाड़ता है, लोगों पर हमला बोल देता है, उन्हें मारकर खा जाता है। इसके बावजूद उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती, क्योंकि ऐसी कोई तीसरी दुनिया नहीं जो पिंजरे की दुनिया और पिंजरे से बाहर की दुनिया से अलहदा हो।

●

परिणाम की जमीन पर खड़ा होकर देखा जाए तो पहले का सबकुछ माफ करने लायक दिखता है।

●

(चयन व अनुवाद : प्रीति प्रदीप)

आईसेक्ट पब्लिकेशन

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली द्वारा
एक्सेलेंस इन बुक प्रोडक्शन के
6 पुरस्कारों से सम्मानित प्रकाशन

ज्ञान-विज्ञान, कौशल विकास तथा
कला-साहित्य पर हिंदी, अंग्रेजी एवं
अन्य भाषाओं में पुस्तकों और पत्रिकाओं का राष्ट्रीय प्रकाशन

स्व-प्रकाशन योजना

हिंदी भाषा, साहित्य एवं विज्ञान की विभिन्न विधाओं में पुस्तकों के प्रकाशन में आने वाली कठिनाइयों को देखते हुए आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल ने लेखकों के लिए स्व-प्रकाशन योजना एक अनूठे उपक्रम के रूप में शुरू की है।

जिन रचनाकारों को अपनी मौलिक, अनूदित, संपादित रचनाओं का पुस्तक रूप में प्रकाशन करवाना है, पांडुलिपि की सॉफ्ट कॉपी के साथ आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल से संपर्क करें।

आईसेक्ट पब्लिकेशन से पुस्तक प्रकाशन के लाभ ही लाभ

- प्रकाशित पुस्तक आईसेक्ट पब्लिकेशन की पुस्तक सूची में शामिल की जायेगी।
- पुस्तक, बिक्री के लिये सुप्रसिद्ध स्टॉलों एवं मेलों आदि में उपलब्ध रहेगी।
- प्रकाशित पुस्तक की समीक्षा सुप्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जायेगा।
- प्रकाशित पुस्तक, शहरों व कस्बों में स्थापित वनमाली सृजनपीठ के सृजन केन्द्रों में पठन-पाठन और चर्चा के लिए भिजवाई जायेगी।
- पुस्तक के लोकार्पण और साहित्यिक मंच पर संवाद-चर्चा आदि की व्यवस्था की जा सकेगी।
- पुस्तक चयनित ई-पोर्टल (अमेज़न, आईसेक्ट ऑनलॉइन आदि) पर भी बिक्री के लिये प्रदर्शित की जायेगी।

विशेष : शोध पर आधारित पुस्तकों के प्रकाशन में अग्रणी संस्थान
(विश्वविद्यालयों के फैकल्टी एवं छात्रों के लिये विशेष स्कीम)

सुरुचिपूर्ण फोर कलर प्रिंटिंग ● आकर्षक गेटअप ● नयनाभिराम पेपर बैक में

कुल बिक्री के आधार पर वर्ष में एक बार नियमानुसार रॉयल्टी भी

पांडुलिपि किसी भी विधा में स्वीकार

आप स्वयं पधारें या संपर्क करें

- प्रकाशन अधिकारी, आईसेक्ट पब्लिकेशन : मो.+91-8818883165
- अधयक्ष, वनमाली सृजनपीठ : मो.+91-9425014166
  ई-7/22 अरेरा कॉलोनी, भोपाल-16 फोन- 0755-4851056
- E-mail : mahip@aisect.org, aisectpublications@aisect.org

www.rntu.ac.in

RNTU

Rabindranath TAGORE UNIVERSITY™
MADHYA PRADESH, BHOPAL

#futureready

Your dependable partner in your career development.

For over a decade, we have been preparing our students to become the leaders of the future. We offer not only quality education and a holistic development but, a platform where one gets an NEP aligned curriculum with different skill courses while making them industry ready along with developing their communication and personality, to become **#futureready!**

Featuring

- India's First Skill University
- 20 Centres of Excellence
- 52-Acre Green Campus; World-class Infrastructure
- International and Corporate Partnerships
- 56 Start-ups Incubated under AIC (NITI Aayog)
- Shiksha Mitra Scholarship on Merit

Courses Offered

Engineering & Technology | Humanities & Liberal Arts
Law | Management | Agriculture | Commerce | Science
Computer Science & IT | Nursing & Paramedical Science
Education | Bachelor of Vocational | Master of Vocational
Ph.D. in selected subjects through separate entrance tests

Integrated courses in association with

AISECT Future Skills Academy · N·S·D·C National Skill Development Corporation · Red Hat · coursera · MICRO FOCUS · Hewlett Packard Enterprise · BOSCH · DAIKIN

Start-up Incubation Centre

AIC-RNTU

Honoured for hard work

- Rank Band 101-150 in Universities nirf 2021
- Ranked 186 in Engineering nirf 2021
- 1st Ranked Private University 2021 in Bhopal INDIA TODAY
- 1st Ranked Private University in Madhya Pradesh 2021 Outlook
- ZEE Education Excellence Award 2020
- Best Physio Excellence University Award 2022
- World Education Award 2016 (Dubai)
- Madhya Pradesh Gaurav Samman 2019

More than 500 companies for placements and internships (Offering upto 15 LPA)

paytm · KUNI · hitech · IFFCO KISAN · Tech Mahindra · TATA CONSULTANCY SERVICES · Us · HCL · WIPRO · genpact · Netlink

Want to unlock your potential?

Rabindranath Tagore University: Bhopal– Chiklod Road, Near Bangrasia Chouraha, Bhopal, Madhya Pradesh, India
City Office: 3rd Floor, Sarnath Complex, Opposite to Board Office, Link Road No. 1, Shivaji Nagar, Bhopal– 462016 | **Email: info@rntu.ac.in**

Call us:
+91-755-2700400, 2700413
+91-755-4289606

ADMISSIONS OPEN